योर्ध्वमुखया मूर्धानमभिसृतया नाड्योक्तनाडीष्वन्यतमयोर्ध्व ऊर्ध्वगमनवानुदानः सन् मुख्यप्राण उदानरूपमात्मप्रविभागं कृत्वा तेन रूपेणेति यावत् । सञ्चरन् पुण्येन शास्त्रविहितेन कर्मणा पुण्यं लोकं स्वर्गादिकं नयति प्रेतान् प्राणिन इति शेषः । पापेन शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणा प्रेतान् पापं लोकं नरकादिकं नयति । उभाभ्यामेव पुण्यपापाभ्यां संमिश्राभ्यां धर्माभ्यां मनुष्यलोकं मानवशरीरं सुकृतदुष्कृतोभयफलकं नयति प्रापयतीत्यर्थः । अत्र मन्त्रेः केनोत्क्रमत इति प्रश्नस्य प्रधानतया उत्तरमभिहितम् । आत्मानमुदानरूपेण प्रविभज्येत्यंशः कथमात्मानं प्रविभज्येति प्रश्नस्योत्तरमित्यनुसंधेयम् ॥७॥

स्वकीय स्वरूप को प्रविभक्त करके इस प्रश्न के अवशिष्ट अंश के प्रतिवचन को किस कारण से उत्क्रमित होता है इस प्रश्न के प्रतिवचन के साथ प्रतिवचन देने के लिये उपक्रम करते हैं-'**अथैकया**' इत्यादि । अथ व्यान वायु का संचार तथा प्रवेश के निरूपण के अनन्तर एक सुषुम्ना नामक ऊर्ध्वमूखमूर्धापर्यन्तगत नाडी से उक्त नाडी की अन्यतम नाडी द्वारा ऊर्ध्वगमनवान् उदानरूप हो करके मुख्यप्राण उदानरूप प्रविभाग करके चलता हुआ पुण्य शास्त्र विहित कर्म द्वारा पुण्यलोक

स्वर्गादिक में ले जाता है मृत प्राणी को । और पाप अर्थात् शास्त्र निषिद्ध कर्म के द्वारा नरकादि लोक में मृत व्यक्ति को ले जाता है । पुण्यपाप संमिलित कर्म के द्वारा सुकृत दुष्कृतोभय फल मनुष्य लोक को प्राप्त कराता है । इस मन्त्र से **'केनोत्क्रमते'** इस प्रश्न का प्रधान रूपसे उत्तर दिया । अपने स्वरूप को व्यान रूपसे प्रविभाग करके इस अंश से **'कथमात्मानं प्रविभज्य'** इस अंश का उत्तर दिया । इसप्रकार से सब प्रश्नों का उत्तर हुआ ॥७॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमुपष्टभ्य अन्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥८॥

लोक प्रसिद्ध यह सूर्य बारह का प्राण है यही इस नेत्र गोलक में स्थित इन्द्रियरूप प्राण के ऊपर अनुग्रह प्रदर्शित कर उदित होता है पृथिवी में जो प्राणस्वरूपा देवता है वही यह देवता मनुष्य के अपान वायु को अनुग्रहपूर्वक स्थित रखता है स्वर्ग तथा पृथिवी के मध्य जो आकाश है वही समान वायु है एवं बाहर का स्पर्श करने वाला जो वायु है वही व्यान है ॥८॥

कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममित्यस्य प्रश्नस्योत्तरं वदति-आदित्य इति । **हवैशब्दौ प्रसिद्ध्यर्थकौ ।**

प्रसिद्धो मुख्यः प्राणो बाह्य आदित्यः सन् बहिरादित्य रूपेणेत्यर्थः । उदयत्युदयं प्राप्नोति । किं कुर्वन्नित्य त्राह-एष हि दृश्यमान आदित्यरूपः प्राण एनं चाक्षुषं प्राणं पूर्वोक्तं चक्षुर्वर्त्तिनं चक्षुःश्रोत्रेमुखनासिकाभ्यां प्राणः (प्र. ३।५) इत्यत्रोक्तं प्राणमाध्यात्मिकं प्राण वायुमनुगृह्णानश्चक्षुषा प्रत्यक्षरूपे कार्ये कारयितव्य आ लोकरूपसहकारिप्रदानेन साहाय्यमाचरन्नित्यर्थः । वर्तत इति शेषः । अत्र कथं बाह्यमित्यस्योत्तरमुदयतीत्यन्तेन दत्तमंशतः । चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णान इत्यन्तेन कथ-मध्यात्ममिति प्रश्नस्योत्तरमुक्तमिति ध्येयम् । एवमुत्तर त्रापि चिन्त्यम् । पृथिव्या या देवता पृथिव्यभिमा निनोदेवतेत्यर्थः । बाह्यपृथिवीगतदेवतारूपेण मुख्यः प्राणो बाह्यमभिधत्त इति योजना कार्या । बाह्यधारणं कुरुत इति तदर्थः । सैषा देवता पृथिव्यभिमानिनी देवता पुरुषस्य शरीरभृतोऽपानमाध्यात्मिकमपान-वायुमवष्टभ्य वर्ततेऽपानवायुरधोऽपकृष्यानुग्रहं कुर्वाणो वर्ततेऽत एव शरीरपातो न भवति । पृथिव्या धारण शक्त्या शरीरस्य धृतत्वादितिभावः । अन्तरा द्यावापृ थिव्योर्मध्ये यदाकाशो बाह्याकाशस्तेन बाह्येन रूपेण मुख्यप्राणो बाह्यधारणं कुरुत इत्यर्थः । स बाह्याकाश स्वरूपो मुख्यप्राणः समानः समानानुग्राहकतया समा

नपदेन व्यपदिश्यते । आध्यात्मिकं समानवायुमनुगृह्णानो विद्यत इत्यर्थः । वायुर्बाह्यो वायुः स व्यानो व्यानवायुमाध्यात्मिकमनुगृह्णात्यतो व्यानशब्देन व्यपदिश्यते । मुख्यप्राणो बाह्यरूपेण बाह्यधारणं कुरुते, शरीरगतव्यानवायुमनुगृह्णानः सन् वर्ततेऽतोऽध्यात्मधारणं च कुरुत इत्यर्थः ॥८॥

'कथं बाह्यमभिधत्तेकथमध्यात्मम्' किस तरह बाह्य प्राण को धारण करता है तथा किसप्रकार से अध्यात्म का धारण करता है इस प्रश्न के उत्तर को बतलाते हैं-**'आदित्यो ह वै'** इत्यादि । यहां ह तथा वै ये दोनों निपात प्रसिद्धार्थक हैं । वह प्रसिद्ध जो मुख्य प्राण वह बाह्य आदित्यरूप हो करके अर्थात् बाहर में दिव्यरूप से उदय को प्राप्त करता है । क्या करता हुआ आदित्य उदित होता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं-**'एष ह्येनम्'** इत्यादि । यह परिदृश्यमान आदित्य स्वरूप मुख्यप्राण वह इस चाक्षुष प्राण को जो कि पूर्वोक्त चाक्षुष में रहनेवाला है जिसका कथन-**'चक्षुं श्रोत्रेमुखनासिकाभ्यां प्राणः'** इसप्रकार से कथित प्राण को आध्यात्मिक प्राण वायु के ऊपर अनुग्रह करता हुआ अर्थात् जब चक्षु से चाक्षुष प्रत्यक्षरूप का कार्य होता है तादृश कार्य में आलोकरूप सहकार के द्वारा सहायता

करता हुआ अवस्थित रहता है अर्थात् चक्षु प्रत्यक्ष में चक्षुकरण और आलोक सहकारी है क्योंकि आलोक का सहकार न रहे तो चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो और आलोक का संपादक सूर्य हैं अतः वह सूर्य आलोक द्वारा चक्षु के ऊपर अनुग्रह करते हैं। चाक्षुष प्रत्यक्ष में उद्भूतरूप तथा आलोक आलोक संयोग को कारणत्व अन्वय व्यतिरेक सिद्ध है जैसे चक्षु के अभाव में अन्ध को चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है उसी तरह आलोक संयोग उद्भूतरूप के बिना सचक्षुष को भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है यह सर्वानुभव सिद्ध है तथा सर्वतन्त्र सहमत है। यहां **'कथं बाह्यमभिधत्ते'** इस प्रश्न का अंशतः उत्तर दिया **'उदयत्येष'** एतदन्त प्रकरण से। और **'चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः'** इस ग्रन्थ से **'कथमध्यात्मम्'** इसका उत्तर दिया ऐसा जानना चाहिये। इसी तरह अग्रिम प्रकरण में भी समझना चाहिये। पृथिवी में जो देवता है अर्थात् पृथिवी अभिमानी जो देवता है। बाह्य पृथिवीगत देवता रूपसे मुख्यप्राण बाह्य वस्तु को धारण करता है इसप्रकार से अक्षर की योजना करनी चाहिये अर्थात् बाह्य वस्तु को मुख्यप्राण धारण करता है। वह यह पृथिवी की अभिमानी देवता शरीरधारी पुरुषों के अपान वायु को अवष्टब्ध करके स्थित है। अपान वायु

के नीचे से अपकृष्ट करके अनुग्रह करते हुए अवस्थित है। अत एव शरीर नीचे की तरफ नहीं गिरता है क्योंकि पृथिवी की धारण शक्ति से शरीर पकडा हुआ रहता है। अन्तरा अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्य में जो आकाश अर्थात् बाह्याकाश है उस बाह्य स्वरूप से मुख्य प्राण बाह्यपदार्थ को धारण करता है। उस बाह्याकाश स्वरूप से मुख्यप्राण समान है अर्थात् समान का अनुग्रहण करने से समान शब्द से व्यवहृत होता है मुख्यप्राण अर्थात् आध्यात्मिक समान वायु के ऊपर अनुग्रह करता हुआ व्यवस्थित रहता है। और जो बाह्य वायु है वह व्यान है वह मुख्यप्राण आध्यात्मिक व्यान वायु के ऊपर अनुग्रह करने से व्यान वायु शब्द से व्यवहृत होता है। अर्थात् मुख्यप्राण बाह्यरूप से बाह्य पदार्थों को धारण करता है। शरीर के मध्य में अवस्थित व्यान वायु के ऊपर अनुग्रह करके अध्यात्म को धारण करता है ॥८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥९॥

लोक प्रसिद्ध तेज ही उदान है इसिलिये शरीर के तेज का शान्त हो जाने पर मनुष्य मनमें संलीन इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म प्राप्त करता है ॥९॥

प्रसिद्धं यत् बाह्यं तेजः सामान्यात्मकं तेज इत्यर्थः । आदित्यशब्देन पूर्वं तेजोविशेष उक्तो न सामान्यमिति न पुनरुक्तिः । उदान उदानवायुमाध्यात्मिकमनुगृह्णातीत्यत उदानशब्देन व्यपदिश्यते । मुख्यप्राणः सामान्यतेजोरूपेण बाह्येन बाह्यधारणं कुरुते । उदानवायुं शरीरगतमनुगृह्णानो वर्तते तस्मादध्यात्मधारणं च कुरुत इत्यर्थः । बाह्यतेजोरूपेण मुख्यप्राणस्योदानवाय्वनुग्रहे लिङ्गं प्रदर्शयति । तस्माद् यत उत्क्रमणस्वभावोप्युदानो वायुर्बाह्यतेजोऽनुग्रहेणैव न शरीरान्निष्क्रामति बाह्यतेजोऽनुग्रहाभावे तूदानोत्क्रमणे सति प्राणी उपशान्ततेजा विगतजाठराग्निप्रयुक्तशरीरौष्ण्यः सन्निन्द्रियैर्वागादिभिर्मनसि सम्पद्यमानैः 'वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे' इत्युक्तरीत्या मनसा सह संसर्गविशेषप्राप्तैरिन्द्रियैरुपलक्षितः सन् पुनर्भवं पुनरुत्पत्तिं शरीरान्तरमित्यर्थः । प्राप्नोतीति शेषः । अत्रापि बाह्यतेजोरूपेण मुख्यप्राणस्य बाह्यधारणमुक्तम् । उदानानुग्रहरूपेण त्वध्यात्मधारणमुक्तमिति ध्येयम् ॥९॥

'तेजोह' यहां ह शब्द प्रसिद्धार्थक है यह प्रसिद्ध सामान्यतः बाह्य तेज । इसके पहले आदित्य शब्द से जिस तेज का कथन किया गया है वह तेजोविशेष का

कथन किया गया है और यहां बाह्यतेजः सामान्य का कथन है इसलिये पुनरुक्तिदोष नहीं होता है। उदान है अर्थात् आध्यात्मिक उदान वायु का अनुग्रह करता हुआ मुख्यप्राण उदान शब्द से व्यपदिश्यमान होता है। यह मुख्यप्राण बाह्य सामान्य तेजो रूपसे बाह्य पदार्थ को धारण करता है। शरीर मध्य में उदान वायु को अनु गृहीत करके जिसलिये अवस्थित है इसलिये अध्यात्म का भी धारण करता है। बाह्य तेजोरूप से मुख्यप्राण उदान वायु का अनुग्रह करता है उसमें हेतु बतलाते हैं- **'तस्मादुपशान्तेत्यादि'** जिसलिये उत्क्रमण स्वभाव वाला उदान वायु बाह्य तेज के अनुग्रह से ही शरीर से उत्क्रान्त नहीं होता है और बाह्य तेज के अनुग्रहाभाव में उदान का उत्क्रमण हो जाने पर प्राणी उपशान्त तेज वाला होता है अर्थात् जठराग्नि प्रयुक्त उष्मता से रहित होकर के इन्द्रिय वागादिक इन्द्रियों के साथ मन में संपद्यमान होने से वाणी मन में सम्पन्न हो जाती है मन प्राण में संपन्न होता है इत्यादि क्रम से मन के साथ इन्द्रियों से उपलक्षित जीव पुनर्भव पुनः उत्पत्ति अर्थात् शरीरान्तर को प्राप्त करता है। यहां भी बाह्य तेजोरूप से मुख्यप्राण को ही बाह्य पदार्थों के धारण में हेतु कहा है। और उदान वायु के ऊपर अनुग्रह करने के कारण

अध्यात्म वायु को भी धारण कहा गया है ॥९॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथा सङ्कल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

मरणासन्न जीव जैसी विचारधारा वाला होता है उसी के अनुसार प्राण वायु विविध योनियों को प्राप्त करता है। मुख्यप्राण उदान से युक्त होकर जीवात्मा के साथ जिसप्रकार का संकल्प करता है उसीप्रकार अलग अलग लोक या योनियों में ले जाता है ॥१०॥

उपाशान्ततेजाः शरीरान्तरं प्रतिपद्यत इत्युक्तं तत् केन प्रकारेणेत्यत्राह- मुमूर्षुर्जीवो यच्चितो यस्मिन् चित्तं यस्य स यच्चितो यत्कामनावान् भवति। चित्तशब्दस्य चित्तसंकल्पपरत्वात्। तेन संकल्पविषय मनुष्यदेवादिशरीरकामेन युक्तः प्राणमायाति मुख्यप्राण संसर्गविशेषं प्राप्नोत्येष जीवः। तं स प्राणः तेजसा उदानानुग्राहकेण पूर्वोक्तेन भूतसूक्ष्मेण सामान्यात्मकेन तेजसा युक्त आत्मनेन्द्रियसंश्लेषविशेषविशिष्टेन मनसा सह यथासंकल्पितं संकल्पविषयभूतं मनुष्यदेवादिश रीरं तत्तल्लोकगतं नयति प्रापयति ॥१०॥

उपशान्त तेज होकर के शरीरान्तर को प्राप्त करता है ऐसा पूर्व मन्त्र में कहा गया है परन्तु शरीरान्तर की प्राप्ति किसप्रकार होती है इस बात को अब बतलाते हैं- **'यच्चित्त'** इत्यादि। मरनेवाला जीव यत्चित्त होता है

अर्थात् जिस वस्तु में चित्त होता है यादृश कामनावान् होता है। यहां चित्त शब्द चित्त के संकल्पपरक है अतः संकल्प का विषय जो मनुष्यदेवादि शरीर की कामना से युक्त होकर के प्राण के मुख्यप्राण के सम्बन्ध विशेष को प्राप्त करता है वह जीव उस जीव को वह मुख्यप्राण उदान के अनुग्रहभूत सूक्ष्मभूत रूप सामान्य तेज से युक्त होकर के आत्मा अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्ध विशेष विशिष्ट मनके साथ यथा संकल्पित संकल्प विषयभूत मनुष्य देवादि शरीर को जो कि तत्तत् लोक स्थित है तादृश लोक को प्राप्त करता है अर्थात् संकल्पानुकूल लोक की प्राप्ति होती है ॥१०॥

य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति । तदेष श्लोकः ॥११॥

उपासना परायण जो ज्ञानी प्राण की उत्पत्ति प्रतिष्ठा आगमन प्रभृति के रूपमें साधना करता है ऐसे उपासक के पुत्र पौत्रादि का नाश नहीं होता है एवं वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। इस विषय में आगे का श्लोक पठित है ॥११॥

यः कोऽपि विद्वानेवं पूर्वोक्तप्रकारेण कुतः प्राण उत्पद्यते, केनायाति, कथं प्रातिष्ठते, केनोत्क्रमते कथं बाह्यमध्यात्मं चाभिधत्त इति प्रश्नोत्तररूपेणोक्तैरुत्पत्ति समागमनप्रतिष्ठादिविशेषणैर्विशिष्टं प्राणं मुख्यप्राणं

वेद जानाति । उपास्त इत्येतत् । अस्योपासकस्य प्रजा पुत्रपौत्रादिरूपा न हीयते न छिद्यते । प्रजाहानिर्न भवतीत्यर्थः । अमृतो भवति परमात्मोपासनाद्वारा मुक्तोऽपि भवतीत्यर्थः । अत्र मुक्तिर्मुख्यं फलम् । प्राणोत्पत्तिकारणतया परमात्मविज्ञानात् प्रजाविच्छेद राहित्यं तु फलमानुषङ्गिकं भवतीतिध्येयम् । तदेष श्लोकः तत् तस्मिन्नर्थ एतत्खण्डे प्रश्नोत्तररूपेण प्रतिपादिते वस्तुनि प्राणोत्पत्त्यागत्यादिरूप एष वक्ष्यमाणः श्लोको मन्त्रो भवत्येतदर्थप्रतिपादको भवत्यग्रिमो मन्त्रः संक्षेपेणेत्यर्थः ॥११॥

'य एवमित्यादि' जो कोई विद्वान् उपासक पुरुष पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात् किससे प्राण उत्पन्न होता है किस कारण से इस शरीर में आता है किस तरह से तत्तत् शरीरावयवों में प्रतिष्ठित होता है किस तरह इस शरीर से उत्क्रान्त होता है किस तरह बाह्य तथा अध्यात्म को धारण करता है ? इन प्रश्नों के उत्तर रूपमें कथित उत्पत्ति आगमन प्रतिष्ठादि विशेषणों से विशिष्ट मुख्यप्राण को जानता है अर्थात् उपासना करता है । उस उपासक के पुत्र पौत्रादि लक्षण प्रजा की हानि नहीं होती है । और एतादृश प्राणोपासक विद्वान् अमृत हो जाता है अर्थात् परमात्मा श्रीरामजी की उपासना द्वारा मुक्त हो

जाता है । यहां मुख्यफल मोक्ष है और प्राण की जो उत्पत्ति कारण से परमात्म विज्ञान से प्रजा का विच्छेद राहित्य है वह आनुषङ्गिक अर्थात् ऐहिक गौण फल है ऐसा जानना चा हिये। इस अर्थ में अर्थात् इस खण्ड में प्रश्नोत्तर रूपसे प्रतिपादित वस्तु में प्राणों के उत्पत्ति प्रभृतिरूप यह वक्ष्यमाण श्लोक अर्थात् एक मन्त्र भी होता है अर्थात् विषयों का प्रतिपादक आगे का मन्त्र होता है ॥११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वञ्चैव पञ्चधा ।

अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते

इति विज्ञायामृतमश्नुते ॥१२॥

卐 इत्यर्थववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ॥३॥ 卐

पूर्व वर्णित मुख्यप्राण की परब्रह्म से उत्पत्ति एवं मन के साथ देह में आना और पायु आदि स्थानों में रहना तथैव महाराजा के समान व्यापकता और प्राण अपानादि पांच प्रंकार के आध्यात्मिक स्वरूप तथा आदित्यादि के रूपसे अच्छी प्रकार ज़ानकर अमृत-सायुज्य मोक्ष प्राप्त करता है ॥१२॥

प्राणस्य परमात्मनः सकाशादुत्पत्तिमायतिं मनः संकल्पजाभ्यां पुण्यपापाभ्यां निमित्तभूताभ्यामस्मिन् शरीर आगमनम् । स्थानं पायूपस्थादिषु स्थानेषु स्थि

तिम् । विभुत्वं सम्राडेवाधिकृतानित्यादिना सदृष्टान्तमितरप्राणापेक्षया स्वामित्वम् । अध्यात्मं शरीरमध्ये पञ्चधाप्राणापानादिरूपेण बहिश्चादित्यादिरूपेण पञ्चधा पञ्चभिः प्रकारैः संनिधानञ्च विज्ञाय ज्ञात्वा विशेषरूपेणामृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति । द्विरुक्तिः प्रश्नार्थप्रतिवचनसमाप्तिबोधनार्था ॥१२॥

इतिश्रीभगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते प्रश्नोपनिषद आनन्दभाष्ये तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

'उत्पत्तिमित्यादि' परमात्मा से उत्पत्ति होती है मनः के संकल्प द्वारा जायमान जो शुभ अशुभकर्मरूप निमित्त कारणों से इस शरीर में आगमन होता है । स्थान पायु प्रभृति स्थान में संस्थिति । तथा विभुत्व अर्थात् **'सम्राडेवाधिकृतान्'** इत्यादि दृष्टान्त सहित व्यापकत्व तथा इतर प्राणापेक्षया स्वामित्व । अध्यात्म शरीर के मध्य में पंचधा प्राणापानादि रूपसे पांच प्रकार से संविधान इसे जान करके अमृतत्व-सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करता है । द्विर्वचन प्रश्न तथा प्रतिवचन समाप्ति का बोधक है ॥१२॥

卐 इतिश्रीभगवद्रामानन्दाचार्यविरचितप्रश्नोपनिषदः श्रीनन्दभाष्यप्रकाशे तृतीयः प्रश्नः 卐

卐 अथ चतुर्थः प्रश्नः 卐

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति । कान्यस्मिञ्जाग्रति । कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति । कस्यैतत्सुखम् । कस्मिन्नु सर्वे प्रतिष्ठिता भवन्ति ॥१॥

महर्षि कौशल्य के वाद प्रसिद्ध उन महर्षि पिप्पलादजी से गर्ग गोत्रीय सूर्यायण के पुत्र गार्ग्य ने प्रश्न किया हे भगवन् ? इस पुरुष के सो जाने पर शरीर में कौन कौन सो जाते हैं तथा कौन कौन इस शरीर में जागते हैं यह प्रकाशमान् जीवात्मा कैसा होकर प्रप्नों को देखता है किस कारण से यह विषय सम्बन्धी सुख होता है एवं ये सब नियत रूपसे किसमें प्रतिष्ठित होते हैं यही मेरी जिज्ञासा है ॥१॥

अथ कौशल्यप्रश्नानन्तरमेनं पिप्पलादं गुरुम् । गार्ग्यः गर्गगोत्रोत्पन्नः सौर्यायणीतिनामा शिष्यः पप्रच्छ पृष्टवान् । हे भगवन् पिप्पलाद ? एतस्मिन् दृश्यमाने पुरुषे पुरुषशब्देनाभिलप्यमाने शरीरे प्राणमनः प्रभृतिसंघातरूपे सुप्तोऽयं पुरुष इति व्यवहारकाले कानि स्वपन्ति स्वव्यापारोपरतानि भवन्ति । अस्मिन् पुरुषे पूर्वोक्ते सुप्ते सति कानि जाग्रति जागरणं कुर्वन्ति स्वव्यापारपराणि भवन्तीत्यर्थः । एषः कतरो

देवो यो देवो द्योतनादिगुणवान् स्वप्नान् स्वप्ननिर्मितान् पदार्थान् हस्त्यश्वादिरूपान् पश्यति स कतरो जीवो वा मनो वेत्यर्थः । मनसोऽपि स्वप्नावस्थायामिन्द्रियसहकारमनक्ष्पेयैव स्वाप्नवस्तुप्रकाशकत्वात् । जीवे तु द्रष्टृत्वं प्रसिद्धमेवेतिभावः । एतत् सुप्तोत्थितेन पुरुषेण परामृश्यमानं सुखमहमस्वाप्समिति, सुखं कस्य किं सम्बन्धि ? विषयसम्बन्ध्यात्मस्वरूपसम्बन्धि वेत्यर्थः । सर्वे यानि स्वपन्ति यानि जाग्रति यदीयमेतत्सुखं ते तदन्ये च जाग्रत् स्वप्नव्यापारोपरत्यां सत्यां सुषुप्तिकाले कस्मिन् प्रतिष्ठिताः स्थितिं लभमाना भवन्ति । नु शब्दः शंकायाम् ॥१॥

'अथ हैनमित्यादि' अथ कौशल्य प्रश्न के अनन्तर वाद में, इन पिप्पलाद गुरुजी के पास, गार्ग्य-गर्ग गोत्र में उत्पन्न सौर्यायणी नामक शिष्य ने पूछा-हे भगवन् पिप्पलाद गुरुजी महाराज ? इस परिदृश्यमान पुरुष में अर्थात् पुरुष शब्द से अभिलप्यमान वाच्य शरीर में प्राण मन प्रभृतिक संघात लक्षण में यह पुरुष सो गया इत्याकारक व्यवहार काल में कौन सो जाता है अर्थात् अपने अपने व्यापार से उपरत हो जाता है । और पूर्वोक्त पुरुष के सो जाने पर कौन कौन जागते रहते हैं अर्थात् स्वकीय व्यापार में संलग्न रहते हैं । यह कौन

देव हैं द्योतनादि गुणवान् व्यक्ति इस स्वाप्न-स्वप्न निर्मित हाथी घोडा प्रभृतिक वस्तुओं को देखता है वह कौन है ? जीव है अथवा मन है ? मन भी स्वप्नदशा में इन्द्रियान्तर के सहकार के बिना ही स्वाप्न पदार्थ का प्रकाशक होता है और जीव में द्रष्टृत्व तो प्रसिद्ध ही है। सुप्तोस्थित पुरुष को सुखपूर्वक मैं सोया कुछ भी नहीं जाना इत्यादि प्रतीति साक्षिक सुख किसे होता है ? जो भी सोते हैं जो भी जागते हैं जिसे यह सुख होता है तथा उनसे अन्य जाग्रत स्वप्न के व्यापार के उपराम हो जाने पर सुषुप्तिकाल में किस में प्रतिष्ठित होते हुए अपनी स्थिति को प्राप्त करते हैं। नु शब्द शंका अर्थ में है ॥१॥

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य ? मरीच योऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्ते जोमण्डल एकी भवन्ति ताः पुनरुदयतः प्रचलन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति । तेन ह्येष पुरुषो न श्रृणोति न पश्य ति न जिघ्रति न रसयति न स्पृशति नाभिव दते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

प्रसिद्ध उन पिप्पलाद महर्षिजी ने उन महर्षि सौर्यायण से कहा हे गार्ग्य ? जैसे अस्तगत सूर्य के सर्वकिरण इस तेज मण्डल सूर्य में ही समिट जाते हैं पुनः सूर्य के उदित होने पर वे सव किरणें सभी ओर फैलकर प्रकाश करती हैं वैसे ही प्रसिद्ध सव वे इन्द्रिय समूह वागादि इन्द्रियों से श्रेष्ठ प्रकाशमान गुण वाले मन में शयनकाल में एक हो जाते हैं सभी इन्द्रियों के उपरत होने से ही यह जीवात्मा सुनता नहीं है देखता नही है सूंघता नहीं है स्वाद नहीं लेता है स्पर्श नहीं करता है बोलता नहीं है ग्रहण नहीं करता है आनन्द का अनुभव नहीं करता है मलत्याग भी नहीं करता है एवं चलता भी नहीं है अतः उसे सबलोग सोता है ऐसा कहते हैं ॥२॥

स पिप्पलादः तस्मै गर्गगोत्राय सौर्यायणीतिनाम्ने शिष्यायोवाच प्रतिवचनं दत्तवान् । हेति प्रसिद्धौ । किमित्यत्राह-हे गार्ग्य यथाऽअस्तं गच्छतोऽदर्शनं प्राप्नुवतोऽर्कस्य सूर्यस्य सायंकालीनस्य सर्वा मरीचयः सर्वेऽपि किरणा एतस्मिन् दृश्यमाने तेजोमण्डले सूर्यबिम्बे एकीभवन्ति दिग्विदिग्भ्यः परावृत्य विवेकानर्हतया संसर्गविशेषमुपयान्ति । ताः मरीचय उदयं गच्छत आदित्यस्य सम्बन्धिन्यः पुनः प्रचलन्ति दिग्विदिक्षु प्रसृता भवन्ति । एवमनयैवरीत्या तत्सर्वमिन्द्रियजातं परे प्रकृष्टे चक्षुरादिभ्य इन्द्रियेभ्यो देवे द्योतनादिगुणयुक्ते मनसि अन्तःकरण एकीभवति स्वस्वव्यापारक्षमं यथा न भवति तथा संश्लेषविशेषमुपगच्छति । स्वप्नसमये इति शेषः । तेनेन्द्रियाणां स्वस्वव्यापाराक्ष

मत्वस्य तदानीं सत्त्वेन हेतुना एष पुरुषो जीवः सुषुप्तो न श्रृणोति शब्दान् श्रावणप्रत्यक्षान् न कुरुते । न पश्यति द्रष्टव्यान् घटादीन् पदार्थान् चाक्षुषप्रत्यक्ष विषयान् कर्तुं न पारयति । जाग्रद्दशायामिव तदानीमित्यर्थः । न जिघ्रति गन्धादिकं घ्राणजप्रत्यक्षविषयं न विधत्ते । न रसयते रसान् मधुरादीन् रसनाजन्यप्रत्यक्षविषयान् न संपादयति । न स्पृशति स्पर्शनेन्द्रियजन्यं प्रत्ययं स्पर्शादिविषयकं तस्य न भवतीत्यर्थः । नाभिवदते वागिन्द्रियव्यापारं शब्दोच्चारणरूपं न करोति । नादत्ते हस्तेन्द्रियव्यापारं वस्त्वादानात्मकं न विधत्ते । नानन्दयत आनन्दमुपस्थेन्द्रियकार्यं नैव तदा कुरुत इत्यर्थः । न विसृजते, अपानकार्यं मलविसर्जनरूपं नाचरति । नेय्रायते गमनक्रियारूपं पादेन्द्रियकार्यं न करोतीत्यर्थः । स्वपिति इत्येव जना एनं तदाऽऽचक्षते कथयन्ति । एतेन कानि स्वपन्तीत्यस्य प्रश्नस्योत्तरं प्रोक्तं भवतीन्द्रियाण्येव स्वपन्तीत्यात्मकमिति बोध्यम् । स्वपितीत्येकवचनप्रयोगस्त्विन्द्रियाणां बहुत्वेऽपि प्रत्येकमेकत्वमेव तेषामित्याशयेनैव ॥२॥

'तस्मै सहोवाचेत्यादि' वे पिप्पलाद मुनिजी उस गर्ग गोत्रोत्पन्न सौर्यायणी नामक शिष्य से बोले अर्थात् उसने जो पूछा था उसका प्रतिवचन दिया । मुनि ने

शिष्य को क्या उत्तर दिया इस प्रकारक जिज्ञासा में श्रुति कहती है-**'यथा गार्ग्य'** इत्यादि । हे गार्ग्य शिष्य ? जिस तरह अस्त को प्राप्त करते हुए अर्क-सूर्य को अर्थात् सायं कालिक सूर्य की रश्मि किरण का समुदाय दृश्यमान इस तेजो मण्डल में सूर्य के बिम्ब में एकीकृत हो जाते हैं अर्थात् दिशा तथा प्रतिदिशाओं से परावृत्त होकर के एकरूप से संमिलित हो जाते हैं । पुनः वे रश्मियाँ किरण जाल सूर्य के उदित होने से पुनः सूर्य सम्बन्धी किरण दिशा तथा विदिशाओं में व्याप्त हो जाते हैं । इसीतरह वे सब इन्द्रियादिक पर प्रकृष्ट चक्षुरादि इन्द्रिय की अपेक्षया देव अर्थात् द्योतनशील मन में अन्तःकरण स्थित इन्द्रिय में एकीभूत हो जाते हैं अर्थात् अपने अपने व्यापार में समर्थ न हो सके उस प्रकार मन के साथ संम्बन्ध विशेष को प्राप्त कर जाते हैं स्वप्न के समय में वे इन्द्रियादिक मनोरूप देव में एकीभूत हो जाते हैं । इससे इन्द्रिय जो चक्षुरादिक हैं वे सब स्वकीय स्वकीय व्यापार करने में असमर्थ हो जाते हैं इस कारण से सुषुप्ति समय में यह पुरुष जीव नहीं सुनता है अर्थात् शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय जन्यज्ञान का विषय नहीं बनाता है । एवं आँख से नहीं देखता है अर्थात् द्रष्टव्य देखने लायक जो घटपटादिक पदार्थ उनको

चाक्षुष प्रत्यक्ष विषय करने में समर्थ नहीं होता है जिस तरह प्रबोधकाल में देखता है उस तरह नहीं देखता है। तथा गन्धादिक विषय को घ्राणज प्रत्यक्ष का विषय नबीं बना सकता है। तथा मधुरादिक रस को रासन प्रत्यक्ष का विषय नहीं बना सकता है। तथा स्पर्शादिक पदार्थ को त्वाच प्रत्यक्ष विषयता का संपादन नहीं कर सकता है। एवं शब्द का उच्चारणरूप वागिन्द्रिय के व्यापार को नहीं कर सकता है। **'ना दत्ते'** पदार्थ का आदानात्मक जो हस्त इन्द्रिय का व्यापार है उसे संपादित नहीं कर सकता है। **'नानन्दयते'** उपस्थ इन्द्रिय का जो आनन्दलक्षण कार्य है उसे नहीं कर सकता है। **'न विसृजते'** मल विसर्जन लक्षण जो अपान का कार्य है उसे भी नहीं कर सकता है क्योंकि इन सब कार्य का जो तत्तत् करण हैं वे सबके सब मन में विलीन हो गये हैं इसलिये किसी भी इन्द्रिय का गमन आगमनरूप कार्य नहीं होता है। किन्तु उस समय में **'स्वपिति'** सोता है इसप्रकार लोग कहते हैं। इससे **'कानि स्वपन्ति'** कौन सोते हैं, इस प्रश्न का उत्तर दिया गया। इन्द्रियाँ सो जाती हैं एतादृश उत्तर हुआ। **'स्वपिति'** यहाँ जो एक वचन का प्रयोग है वह यद्यपि इन्द्रिय के अनेक होने पर भी एक एक में तो एकत्व ही है अवान्तर भेद से

अनेकत्व नहीं है, इस अभिप्राय से कहा गया है ॥२॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥

प्राण अपान प्रभृति पांच अग्नियां ही इस शरीर में जागती हैं यह अपान नाम से प्रसिद्ध वायु ही गार्हपत्य अग्नि है तथा व्यान वायु दक्षिणाग्नि है एवं जो गार्हपत्य अग्नि से ले जाया जाता है वह प्राण ही ले जाये जाने के कारण आहवनीय अग्नि है ॥३॥

वागादिष्विन्द्रियेषु प्रसूप्तेष्वेतस्मिन् पुरे पुरसदृशे देहे । द्वारवत्वेन पुरस्य देहे सादृश्यं बोध्यम् । प्राणाग्नयः प्राणाः पञ्चसंख्याकाः प्रसिद्धाः तद्रूपा अग्नयः प्राणाग्नयो जाग्रति शरीरधारणलक्षणं स्वव्यापारं कुर्वाणा भवन्ति । यद्यपि प्राणानां वायुरूपाणामग्नित्वमप्रसिद्धं तथापि तेष्वग्नित्वारोपोऽग्निहोत्रदृष्टिविधानार्थः । गार्हपत्यो ह वैषोऽपान एष मूलाधारगतोऽपानवायुर्गार्हपत्योगार्हपत्याग्निरित्यर्थः । अपानस्य गार्हपत्यत्वे हेतुमाह यद्गार्हपत्या प्रणीयते प्रणयनाद् यद् यस्मात् कारणात् प्रणयनाद् गार्हपत्यात् प्रणीयत आहवनीय इति योजना । प्रणयनादिति विशेषणं गार्हपत्यादित्यस्य । प्रणीयत आहवनीयोऽस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्यः, गृहपतेर्यजमानस्य गृहसम्बन्धीवह्निर्गार्ह

पत्यः । तदग्निमध्याद् होमायाग्निः ऋत्विग्भिर्नीयते यज्ञकुण्डे । स नीयमानोग्निराहवनीय इत्युच्यते । व्यानोऽन्वाहार्यपचनः । व्यानवायुरन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निरित्युच्यते । हृदयस्य पंचसु सुषिरेषु मध्ये दक्षिणासुषिरतो व्यानस्य निर्गमनादन्वाहार्यपचनसादृश्याच्चान्वाहार्यपचन इत्युच्यते । आहवनीयः प्राणः प्राणवायुरेवाहवनीय इत्यर्थः । अयंभावः यथा गार्हपत्यादग्नेराहवनीयोऽग्निः प्रणीयते तथैव अधः स्थितादपानात् प्राणवायुरुन्नीयते हृदयादूर्ध्वं तस्मादपानो गार्हपत्यत्वेन रूपितः । प्राणरूपाहवनीयत्वेन रूपित इति ॥३॥

'प्राणाग्नय' इत्यादि । वागादिक इन्द्रियों के प्रसुप्त कार्याक्षम हो जाने पर भी इस पुर सदृश देह शरीर में नगर में भी द्वार होता है तथा शरीर में भी द्वार होता है अतः द्वारवत्व के काण देह तथा पुर में सादृश्य है । प्राणरूपी अग्नि प्रसिद्ध पांच संख्यावाला जो प्राण है तद्रूप जो अग्नि वह जागता है अर्थात् शरीर धारण लक्षण जो स्वकीय व्यापार उसे करते हुए वे प्राण लक्षण अग्नि जागते रहते हैं । यद्यपि प्राण तो वायुरूप है तो उसमें अग्नित्व अप्रसिद्ध है तथापि प्राणों में जो अग्नित्व का आरोप है वह अग्निहोत्र दृष्टि का विधान करने के लिये है । **'गार्हपत्य'** इति । यह अपान वायु

गार्हपत्य अग्नि है मूलाधार में रहने वाला अपान वायु ही गार्हपत्य अग्नि है। अपान वायु को गार्हपत्य अग्नि कहने में हेतु बतलाते हैं-**'यद्गार्हपत्यादित्यादि'** यत् जिस कारण से गार्हपत्य से आहवनीय प्रणीयमान होता है इसप्रकार से योजना की जाती है। **'प्रणयनात्'** यह विशेषण गार्हपत्य का है। प्रणीयमान आहवनीय हो जिससे इस तरह प्रणनयन गार्हपत्य है। गृहपति जो यजमान का गृह सम्बन्धी अग्नि है उसे गार्हपत्य कहते हैं। उस गार्हपत्य अग्नि में से ऋत्विक् लोग यज्ञकुण्ड में अग्नि को ले जाते हैं। वह नीयमान जो अग्नि वह आहवनीय कहलाता है। व्यान वायु अन्वाहार्य पचन वह्नि है। यह जो व्यान अन्वाहार्यपचन वह्नि है उसी को दक्षिणाग्नि कहते हैं। हृदय में जो पांच सुषिर छिद्र के मध्य में दक्षिण छिद्र से व्यान वायु का निर्गमन होता है इसलिये और अन्वाहार्य पचन के सादृश्य से इसको व्यान को अन्वाहार्यपचन कहते हैं। आहवनीय प्राण है अर्थात् प्राण वायु ही आहवनीय वह्नि है। भाव यह है कि जिस तरह गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि प्रणीयमान होता है उसी तरह अधः स्थित अपान वायु से प्राण उन्नीयमान होता है हृदय से ऊपर को इसलिये अपानगार्हपत्य के उपमान उपमित किया गया है और

प्राण को आहवनीय रूपसे उपमित किया है ॥३॥

यदुच्छ्वासनिःश्वसावेतावाहुती समं नयतीति समानः मनो ह व़ाव् यजमान इष्टफलमेवोदानो य एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

ये जो उश्वास तथा निश्वास हैं ये दोनों ही अग्निहोत्र में आहुतियां हैं समान रूपसे सभी ओर जो ले जाता है वह समान कहाता है एवं वही अध्वर्यु है। यह प्रसिद्ध मन ही यजमान है उदान वायु ही यज्ञ का फल है यह उदान वायु ही इस यजमानस्वरूप मनको प्रतिदिन परब्रह्म को प्राप्त कराता है ॥४॥

यद् यस्मादेतौ दृश्यमानावुच्छ्वासनिःश्वासावेवाहुती। अग्निहोत्राहुतिद्वयमित्यर्थः। एतदाहुतिद्वयमुच्छ्वासनिःश्वासात्मकं हविःस्थानीयं समं नयति साम्येन शरीरस्थितये प्रापयत्याहवनीयं प्रतीत्यतो हेतोः समान इत्युच्यते। अयमेव होतेत्यर्थः। यतो हेतोराहुतिर्नयत्याहवनीये वह्नौ। समानोऽपि उच्छ्वासनिःश्वासरूपाहुतिद्वयं नयत्याहवीयं प्राणं प्रतीतिभावः। मनो ह वा यजमानो यागाधिकृत एव जनो यागे यजमान इत्युच्यते। स चात्र मनोऽन्तःकरणमेव तस्यैव शब्दादिनानाविधविषयदेशपरिभ्रमणप्रयुक्तश्रमापनोदाय स्वापाग्निहोत्रे प्रवृत्तत्वात्। इष्टफलमेव उदानः। इष्टं यागोऽत्राग्निहोत्ररूपस्तस्य फलं पुण्यरूपमुदानः। उदानवायुरेव

यथा यागफलं पुण्यमेव यजमानं नयति स्वर्गादिलोकं प्रति तथा उदान एव मनोरूपं यजमानं पुरीतद्देशवर्ति ब्रह्मगमयतीत्युदाने इष्टफलत्वमारोपितम् । तदाह य एनं यजमानमहरहरिति । य उदान एनं मनोरूपं यजमानं यागाधिकृतमहरहः प्रतिदिनं स्वापकाले ब्रह्म गमयति । पुरीतद्देशवर्त्तिनं ब्रह्म प्रापयतीत्यर्थः । स्वापकाले जीवस्यैव ब्रह्मगमनमन्यत्रापि यद्यपि निर्दिष्टम् 'एवमेवेमाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य' (छा.८।३।१२) इत्यादौ तथापि ब्रह्मणो व्यापकतया पुरीतत्प्रदेशेऽपि सत्वात् । मनसश्च तत्र गमनान्मनसो ब्रह्मगमनं सम्भवत्येवेति भावः । प्राणाग्नय एव जाग्रतीत्येतदंशेन कानि जाग्रतीतिद्वितीयप्रश्नस्योत्तरं दत्त्वाऽपानव्यानप्राणेषु त्रितयवह्नित्वम्, उच्छ्वासनिःश्वासयोराहुतिद्वयत्वम्, समानवायौ होतृत्वम्, मनसि यजमानत्वमुदाने च यागव्यापारभूत पुण्यत्वमारोप्याग्निहोत्रत्वसम्पत्तिः स्वापे दर्शिता । सा विदुषः कर्मविशेष एव भवति स्वापोऽपीति बोधनार्थेतिध्येयम् ॥४॥

'यदुच्छ्वासेत्यादि' यत् जिस कारण से ये दृश्यमान पुरुष का उच्छ्वास आहुति है अर्थात् अग्निहोत्र हवन का आहुतिद्वय है । यह आहुतिद्वय श्वास निःश्वासात्मक हविष स्थानीय है उसे जो सम नियमित करता है अर्थात्

समान रूपसे शरीर स्थिति के लिये आहवनीय अग्नि को प्राप्त कराता है इस हेतु से यह समान कहलाता है। यही होता है जिसलिये कि यही आहवनीय अग्नि में आहुति को प्राप्त कराता है। समान भी उच्छ्वास निःश्वासरूप आहुतिद्वय को आहवनीय प्राण को ले जाता है। मन यजमान है-याग में अधिकृत व्यक्ति ही याग में यजमान कहलाता है। वह यजमान यहां मन अन्तःकरण ही है, उसी को शब्दादिक जो अनेक प्रकारक विषय देश में परिभ्रमण प्रयुक्त श्रम का निराकरण करने के स्वरूप अग्निहोत्र में प्रवृत्ति हुई है। इष्टफल उदान है। इष्ट है याग आग्निहोत्ररूप उसका फल पुण्यरूप उदान है। जिस तरह याग का फल पुण्य ही यजमान को स्वर्गादि लोक के प्रति ले जाता है। तथा प्रकृत में उदानरूप जो फल है वही मनरूप यजमान को पुरीतति देश में अवस्थित ब्रह्म को प्राप्त कराता है। इसलिये उदान वायु में इष्टफलत्व का आरोप किया गया है। इस बात को श्रुति कहती है-'**य एनं यजमानमहर हरित्यादि**' जो यह उदान वायु इस मनोरूप यजमान को जो कि याग में अधिकृत है उसे प्रतिदिन स्वापकाल में ब्रह्म को प्राप्त कराता है अर्थात् पुरीतत् देशावस्थित ब्रह्म की प्राप्ति कराता है। यद्यपि स्वापकाल में जीव का ही

गमन होता है ऐसा-'**एवमेवेमाः प्रजाः**' इत्यादि स्थल में बतलाया गया है तथापि ब्रह्म के व्यापक होने से पुरीतत् प्रदेश में भी अवस्थान है। और उस पुरीतति नाडी में मन का गमन होने से मनका भी प्रतिदिन ब्रह्म गमन संभवित है। प्राणरूप अग्नि जागता है इस अंश से कौन जागता है इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर देकर के अपान व्यान और प्राण इन तीनों में वह्नित्व का उच्छ्वास निःश्वास में आहुतिद्वय का समान वायु में-होतापना मन में यजमानत्व का और उदान वायु में याग का व्यापार रूप पुण्यफलत्व का आरोप करके स्वप्न में अग्निहोत्र रूपत्व का प्रदर्शन कराया गया है। स्वप्न भी विद्वान् पुरुष का एक प्रकार का कर्म ही है ऐसा बतलाया गया है अर्थात् उपासक का भोजन स्वप्नादिक सब कर्म विशेष ही है ॥४॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति५

प्रकृत स्वप्न के प्रसङ्ग में यह प्रकाश गुण से युक्त जीवात्मा

हाथी प्रभृति महत्व का अनुभव करता है जो जागरितकाल में देखा है उसीको ही जीव स्वप्न में देखता रहता है तथा जाग्रत समय में जो सुना हुआ है उसी अर्थ को ही स्वप्न में भी वार वार सुनता है एवं देश तथा देशान्तरों में अनेक् वार् अनुभूत पदार्थों को ही पुनः पुनः स्वप्न में भी अनुभव करता है। तथैव इस भव में देखे हुए और नहीं देखे हुये को भी एवं सुने हुये और नहीं सुने हुये को और इस जन्म में अनुभूत तथा अननुभूत को भी यह जीवात्मा विद्यमान या अविद्यमान सभी पदार्थ को स्वप्न में देखता है ॥५॥

क्तर एष देवः स्वप्नान् पश्यतीतिप्रश्नस्योत्तरं ददाति-अत्रैष इति । अत्र अस्मिन् काले सुषुप्तितः पूर्वस्मिन् प्राणादिपञ्चव्यापारवति इन्द्रियव्यापाररहिते च काल इत्यर्थः। एष देवो जीवात्मा स्वप्ने महिमानं विभूतिं राजदेवादिभावलक्षणां रथगजतुरवत्वलक्षणां चानुभवति साक्षात्करोति जागरे श्रोत्रादिसहायेन यः पश्यति सोऽधुना श्रोत्रादिरहितोऽपि द्रष्टुं समर्थ इत्यभि प्रायेण देव इति विशेषणम् । महिमानमेव प्रपञ्चयितु माह-यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति जागरे दृष्टं पुनः पुनर्यद् वस्तु दृष्टं मित्रपुत्रादिलक्षणं तदनुपश्चात् स्वप्नकाले पश्यत्यनुभवतीत्यर्थः। श्रुतं श्रुतं भूयो जागरे श्रावण प्रत्यक्षविषयीकृतं शब्दजातमेवानुश्रृणोति । स्वापेऽपि श्रावणप्रत्यक्षगोचरं करोतीत्यर्थः। देशदिगन्तैश्च दे-शाश्च दिशश्चेति देशदिशः, अन्या देशदिशो देशदिगन्त

राणि तेषु देशान्तरेषु विभिन्नासु दिक्षु च प्रत्यनुभूतं प्रतिदिनमनुभूतमनुभवविषयतां नीतमर्थं घटपटादिप दार्थजातं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति । पौनः पुन्येन अनेकेषु स्वप्नेष्वनेकेषु वासरेष्वनुभवतीत्यर्थः । पूर्वं दृष्टमेव नियमतोऽनुभवति स्वप्ने इत्यपि नास्तीत्यतोऽदृष्टमपीति वदति दृष्टं चादृष्टं च इह जन्मनि जागरे यद् दृष्टं तदपि पश्यति, जन्मान्तरदृष्टमिह जन्मनि चादृष्टं यद् वस्तु तदपि पश्यतीत्यर्थः । श्रुतं श्रवणगोचरीकृतं पूर्वम्, अश्रुतं कदाचिदपि न श्रोत्रजज्ञान विषयतां गतमपि शब्दजातमनुश्रृणोतीत्यर्थः । अनुभूतं स्वानुभवगोचरं स्वसुखदुःखादिकमननुभूतं स्वकीयशिरोवैकल्यादिकञ्च पश्यति । सत् च विद्यमानं भूतले यद् वस्तु तत् पश्यति, यच्च असत् अविद्यमानं भूतं भावि वा स्वपुत्रादिकं तदपि पश्यतीत्यर्थः । सर्वं पश्यति यदत्रोक्तं यच्चानुक्तं सर्वं पश्यति किमधिककथनेनेतिभावः । सर्वं पश्यति द्रष्टा श्रोता गन्तेत्यादि सर्वरूपः सन् पश्यति । स्वप्नसृष्टश्रोत्रादिमत्त्वस्य तदानीं तस्मिन् भावादितिभावः ॥५॥

कौन देव हैं जो स्वप्न को देखते हैं इस प्रश्न का प्रतिवचन देने के लिये उपक्रम करते हैं-**'अत्रैष देवः'** इत्यादि । अत्र इसकाल में अर्थात् सुषुप्ति के पूर्व प्रा

णादिक पांच का व्यापारवान् तथा इन्द्रिय व्यापार रहित स्वप्नाख्य काल विशेष में। यह देव जीवात्मा स्वप्न में महिमा विभूति का राजा देवादिभाव लक्षण तथा रथ गजादि लक्षण विभूति का अनुभव साक्षात्कार करता है। जाग्रत्काल में श्रोत्रादि इन्द्रिय की सहायता से जिस वस्तु को जानता है उन सब वस्तुओं को अभी स्वप्नकाल में श्रोत्रादि साहाय्य रहित भी देखता है। उन सब वस्तुओं को देखने में सामर्थ्य है इस अभिप्राय से **'देवः'** इत्याकारक विशेषण दिया गया है। महिमा को विस्तृत रूपसे बतलाने के लिये कहते हैं-**'यद् दृष्टं दृष्टमित्यादि'** जागरित काल में जो जो बारंवार देखा गया पशु मित्र पुत्रादि पदार्थ हैं उनको अनुपश्चात् स्वप्नकाल में देखता है अर्थात् उन सब वस्तुओं का बाह्येन्द्रिय निरपेक्ष हो करके अनुभव करता है। तथा **'श्रुतं श्रुतम्'** जाग्रत्काल में बारंवार जो शब्दादिक विषय श्रोत्रेन्द्रिय से श्रुत है उन सब वस्तुओं का अनुपश्चात् स्वप्नकाल में श्रवण करता है। देश तथा दिगन्तर से प्रतिदिन अनुभूत घटपटादिक पदार्थ का पुनः पुनः अनुभव करता है। पुनः पुनः अनेक दिन में अनेक स्वप्नों में देखता है अनुभव करता है। केवल जागरितावस्था में जो वस्तु दृष्ट है उसी का अनुभव स्वप्नावस्था में करता है ऐसा नहीं किन्तु जो

पदार्थ जागरितावस्था में अदृष्ट है उसका भी स्वप्नावस्था में दर्शन करता है। इसलिये मूल में कहा है कि-**'दृष्टं चादृष्टं चेति'** और ज़ो पदार्थ कदाचित् श्रुत है और जो पदार्थ श्रुत नहीं है अर्थात् श्रवणेन्द्रिय जनित प्रत्यक्ष का विषय नहीं है उसका भी श्रवण करता है। एवं जो कदाचित् स्वकीय अनुभव का विषय हुआ है जैसे स्वकीय सुखदुःखादिक तथा जो अननुभूत है जैसे स्वकीय शिरः छेदनादिक उसे भी देखता है। तथा जो सत् है अर्थात् भूतलादिक में विद्यमान घटादिक है तथा जो असत् है अर्थात् अविद्यमान स्वकीय अतीत अथवा अनागत पुत्र पौत्रादिक उसे भी देखता है। और सबको देखता है जो कुछ कहा गया अथवा जो नहीं कहा गया है सब पदार्थ को देखता है। **'सर्वं पश्यति'** द्रष्टा श्रोता मन्ता सर्वरूप होकर के सबको देखता है। क्योंकि स्वप्न में स्वप्नसृष्ट श्रोत्रादिमान् होता है ॥५॥

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति। तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति ॥६॥

जब जीवात्मा तेज यानी परब्रह्म श्रीरामजी से संपृक्त होता है उस अवस्था में द्योतन गुणवाला यह जीव स्वप्नों को नहीं देखता है वाद में इस शरीर के होने पर ही यह विषय सम्बन्धी सुख होता है ॥६॥

कस्यैतत्सुखमिति प्रश्नं प्रतिवक्तुमाह-स यदेति । स स्वप्नद्रष्टा जीवो यदा तेजसा परमात्मना अभिभूतो भवति । संपरिष्वक्तो भवति 'सता सौम्य तदा संपन्नो भवति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' इति श्रुतौ तेज सेत्यनेन परमात्मनो ग्रहणादिह तेजःपदं परमात्मवाच कमनुसंधेयम् । अत्रास्मिन्नवसरे परमात्मना सह परि ष्वङ्गकाल एष देवो जीवः स्वप्नान् स्वप्नगतान् पदार्थान् रथतुरगादिलक्षणान् न पश्यति । तदानीं मन सोप्यपरिशेषात् तस्यापि परमात्मनि संश्लेषात् । अथ तत् सुषुप्तोत्थितेन परामृश्यमानं 'सुखमहमस्वाप्तसमि'त्येवं जातीयकमात्मस्वरूपसम्बन्धिसुखं यत् तदेतत् सुखं शरीरे भवति शरीरान्तर्गतमेव भवति न शरीराद् बहिर्भवतीत्यर्थः । सुषुप्तिकाले स्वात्मसुखसंवेदनमेव भवति यत्परामृश्यते लोकैर्जागरकाले नान्यत् तत्सुख मितिभावः ॥६॥

'कस्यैतत्सुखं भवति' किसे यह सुख होता है यह जो प्रश्न है उसका उत्तर देने के लिये अग्रिम मन्त्र का उत्थान होता है-'स यदेत्यादि' वह स्वप्न को देखने वाला जीव जब तेज से अर्थात् सर्वतेजोमय परमपुरुष श्रीरामजी से अभिभूत होता है अर्थात् परमात्मा से संपरिष्वक्त हो जाता है । सता सोम्य ? तदा सम्पन्नो

भवति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति हे सोम्य ? उस समय में सत् स्वरूप परमात्मा में संपन्न होता है सत् स्वरूप परमात्मा से संपन्न हो जाता है, इत्यादि श्रुत्यन्तर में तेजः पद से परमात्मा का ग्रहण किया गया है तो यहां भी तेजः पद परमात्मा का ही वाचक है ऐसा जानना चाहिये। अत्र इस समय में अर्थात् परमात्मा से संपरिष्वक्त काल में यह स्वप्नदृक् जीव स्वप्नगत रथतुरगादि लक्षण पदार्थ को नहीं देखता है क्योंकि उस समय में मन भी परमात्मा से संपरिष्वक्त हो गया होता है। **'अथ तत् सुप्तोत्थितपुरुष से परामृश्यमानस्मरण विषयीभूत'** सुखपूर्वक मैं सोगया एतज्जातीयक आत्मस्वरूप सम्बन्धी स्वरूप जो सुख है वह सुख शरीर में ही होता है अर्थात् शरीर के अन्तर्गत ही होता है किन्तु शरीर से बाहर में नहीं होता है। सुषुप्तिकाल में स्वात्मसुख का ही अनुभव होता है जिसका स्मरण जाग्रत्काल में होता है वह सुख कुछ अन्य नहीं है ॥६॥

स यथा सोम्य ? वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥७॥

हे प्रियदर्शन ? प्रकृत प्रसंग में यह दृष्टान्त है कि जैसे पक्षिगण सायं संध्या में अपने नियत निवास वृक्ष में संप्रतिष्ठित होकर रहते हैं उसीप्रकार निश्चय रूपसे वे सब पृथिवी से प्राण तक के तत्त्व परब्रह्म

श्रीरामजी में संप्रतिष्ठित हो जाते हैं ॥७॥

कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता इति प्रश्नं प्रतिवदति-स यथेति । हे सोम्य प्रियदर्शन वयांसि पक्षिणा वासोवृक्षं वासार्थो वृक्षो वासोवृक्षः । तं प्रति निवासतरुं प्रतीत्यर्थः । वासोवृक्षशब्द ओकारश्छान्दसः । संप्रतिष्ठन्ते दिवाऽऽहारार्थं स्वाभीप्सितान् देशान् गत्वा ततः परावृत्ताः श्रान्ताः पक्षिणो निवासवृक्षं श्रमापनोदाय संश्रयन्ते यथा येन प्रकारेण । एवमेवंप्रकारेणैव ह वै प्रसिद्धमेतदित्येतत् । तत्सर्वं यत् कार्यकारणभावमासु मर्थजातं शब्दादिरूपं यच्च तद् ग्रहणजनकमिन्द्रियं चक्षुरादि यच्च मनः प्राणपञ्चकं जीवश्च तत्सर्वं पर आत्मनि परब्रह्मणि संप्रतिष्ठते । सर्वे सुषुप्तिकाले एकीभवन्ति संपरिष्वक्ता भवन्ति । अविभक्तभावं गच्छन्तीत्यर्थः ॥७॥

'ये सब किसमें प्रतिष्ठित रहते हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उपक्रम करते हैं **'स यथा वयांसीत्यादि'** हे सोम्य प्रियदर्शन ? जिसप्रकार पक्षीगण वासो वृक्ष निवास करने के लिये उपयुक्त जो वृक्ष है, उस निवास वृक्ष के प्रति । वासोवृक्ष शब्द में ओकार छान्दस है । संप्रतिष्ठित होता है अर्थात् सूर्योदय के वाद स्वकीय भोज्य वस्तु की प्राप्ति करने के लिये स्वकीय

अभिमत देश को प्राप्त करके योगक्षेम का संपादन करके सायंकाल लौट करके श्रान्त होता हुआ अपने श्रम को हटाने के लिये निवासवृक्ष का आश्रय लेते हैं जिस तरह उसी तरह। ह तथा वै शब्द प्रसिद्धार्थक हैं। वे सब जो कार्य करण संघात शब्दादिक अर्थ समुदाय तथा तादृश अर्थ ग्राहक चक्षुरादि इन्द्रिय समुदाय मन प्राण पंचक और जीव ये सबके सब पर आत्मा परब्रह्म में संप्रतिष्ठित हो जाते हैं। अर्थात् सुषुप्तिकाल में एकीभूत संपरिष्वक्त हो जाते हैं। ब्रह्म के साथ अविभक्तभाव को संप्राप्त हो जाते हैं ॥७॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च वि

द्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ।८।

स्थूल कार्यरूपा पृथिवी एवं सूक्ष्म कारणरूपा पृथिवी तथा स्थूल जल एवं सूक्ष्म जल और कार्यरूप तेज तथा सूक्ष्म कारणरूप तेज तथा कार्यरूप वायु एवं कारणरूप वायु और कार्यरूप आकाश तथा कारणरूप आकाश तथैव चक्षु तथा देखने योग्य पदार्थ एवं कान तथा सुनने योग्य पदार्थ और नाक तथा सूंघने योग्य पदार्थ एवं रस तथा रस लेने लायक पदार्थ और त्वचा तथा स्पर्श करने योग्य पदार्थ एवं वाणी तथा बोलने योग्य वस्तु और दोनों हाथ तथा हाथों से ग्राह्य पदार्थ एवं उपस्थ तथा उपस्थ का विषय और पायु तथा पायु का विषय एवं दोनों पैर तथा गन्तव्य स्थान और मन तथा मनन का विषय एवं बुद्धि तथा ज्ञान करने लायक एवं अहंकार तथा अहंकार का विषय वस्तु और चित्त तथा चिन्तन का विषय वस्तु एवं तेज तथा प्रकाश करने लायक पदार्थ एवं प्राण तथा प्राण से धारण करने योग्य पदार्थ समूह भी परब्रह्म श्रीरामजी में ही स्थित हैं ॥८॥

पूर्वमन्त्रे 'तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते' इत्युक्तम् । तद्गतसर्वशब्दार्थं विवृणुतेऽनेन मन्त्रेण । पृथिवी रूपरसादिगुणपञ्चकविशिष्टापञ्चीकृता स्थूला निरीक्ष्यमाणाऽस्मदादिभिरपि । पृथिवीमात्रा सूक्ष्माऽपञ्चीकृता गन्धतन्मात्रपदव्यपदेश्या स्थूलपृथिव्याः कारणभूता । आपः स्थूलजलात्मिकाः । आपोमात्रा रसतन्मात्रा, आपोमात्रेत्यत्र छान्दसत्वाद् विभक्तेरलुक् । तेजः पञ्चीकृतं स्थूलं तेजःसामान्यम् । तेजोमात्रा रूपतन्मात्रा । वायुः स्थूलो वायुः । वायुमात्रा स्पर्शतन्मात्रा । आकाशः

स्थूलाकाशः । आकाशमात्रा शब्दतन्मात्रा । स्थूलसूक्ष्माणां कार्यकारणभावं गतानां भूतानामयं प्रपञ्च उक्तः । अत इन्द्रियतदर्थान् प्रपञ्चयति-चक्षू रूपादि ग्राहकमिन्द्रियम् । द्रष्टव्यं तदीयविषया रूपादयः । श्रोत्रं च शब्दग्राहकमिन्द्रियम् । श्रोतव्यम् तद्विषयाः शब्दादयः । घ्राणं गन्धग्राहकमिन्द्रियम् । घ्रातव्यं गन्ध गन्धत्वादिकं तदीयो विषयः । रसः रसग्राहकं रसनेन्द्रियं । रसयितव्यं रसनाग्राह्यो रसादिर्विषयः । त्वक् स्पर्शोपलम्भकमिन्द्रियम् । स्पर्शयितव्यं त्वगिन्द्रियग्राह्यं स्पर्शवद् द्रव्यं स्पर्शादिश्च । एतावद् ग्रन्थेन बाह्यज्ञानेन्द्रियतदीयविषयाः प्रपञ्चिताः । वाक् च वागिन्द्रियं शब्दोच्चारणसाधनम् । वक्तव्यं वाचोच्चारणीयानि वर्णपदबोध्यानि । हस्तौ आदानसाधनमिन्द्रियं पाण्यपरपर्यायम् । आदातव्यं पाणिनेन्द्रियेण ग्राह्यं वस्तु घटपटादिकम् । उपस्थो जननेन्द्रियम् । आनन्दयितव्यं जननेन्द्रियसाध्य आनन्दविशेषः । पायुर्मलत्यागकारीन्द्रियं गुदाऽपरपर्यायम् । विसर्जयितव्यं परित्याज्यं कोष्ठान्तर्गतनिस्सारभूतं वस्तु मलापरपर्यायम् । पादौ गमनसाधनमिन्द्रियम् । गन्तव्यं ग्रामादिदेशः । एतावता कर्मेन्द्रियतद्विषयाः प्रपञ्चिताः । मनः संकल्पादिसाधनमान्तरं ज्ञानेन्द्रियम् । मन्तव्यं तद्विषयः संकल्पादिः ।

बुद्धिः निश्चयात्मवृत्तिविशिष्टमन्तःकरणम् । बोद्धव्यं तदीयो विषयो यो निश्चेतव्यो भवति । अहंकारोऽभिमानात्मकवृत्तिमदन्तःकरणम् । अहंकर्तव्यं तदीयो विषयो योऽभिमन्यते । चित्तं स्मरणात्मकवृत्तिमदन्तःकरणम् । चेतयितव्यं चित्तेन स्मरणीयं वस्तु तद्विषयभूतम् । तेजः शरीरान्तगतस्तेजोधातुर्यः शरीरगतोष्णतयाऽनुमीयते । विद्योतयितव्यं शरीरगतेन तेजसा प्रकाश्यं शरीरान्तर्गतं वस्तु । प्राणः प्राणवायुः । विधारयितव्यं प्राणेन वायुना धारणीयमिदं शरीरं कार्यकरणसंघातरूपम् । अचेतनाः कार्यकरणरूपाः सर्वेऽपि पदार्थाः परमात्मनि प्रतिष्ठिताः सन्तीत्येतेन मन्त्रेण प्रपञ्च्य प्रदर्शितः ॥८॥

इसके अव्यवहित पूर्व मन्त्र में कहा है कि-'**तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठिते**' वे सब पर आत्मा में संप्रतिष्ठित हो जाते हैं । उसमें सर्व शब्द से किसका किसका संग्रह होता है तो उन सब का विवरण करते हैं प्रकृत मन्त्र से '**पृथिवी चेत्यादि**' पृथिवी अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द लक्षण पंचगुण विशिष्ट पंचीकृत स्थूला अस्मदादि से चक्षुरिन्द्रियादि द्वारा गृह्यमाण सर्वाधारभूता पृथिवी । तथा पृथिवी मात्रा अपंचीकृत स्थूल पृथिवी का कारण गन्धतन्मात्रा पद प्रतिपाद्य । '**आपश्चे**

ति' स्थूल जल तथा आपोमात्रा रसतन्मात्रा। आपोमात्रा में छान्दसत्वात् विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। तेज.-पंचीकृत तेज सामान्य तथा तेजोमात्रारूप तन्मात्रा। स्थूल वायु तथा सूक्ष्म वायु स्पर्शतन्मात्रा। स्थूल महाभूताकाश तथा शब्दतन्मात्रा लक्षण सूक्ष्माकाश। कार्यकारणभाव को प्राप्त किये हुए पंचभूतों का यह प्रपञ्च बतलाया गया। इसके वाद इन्द्रिय तथा इन्द्रियों का जो विषय है उनका विस्तार बतलाया जाता है-**'चक्षुश्चेत्यादि'** चक्षु-रूपादिग्राहक इन्द्रिय विशेष। द्रष्टव्य चक्षु का विषयरूपादिक। श्रोत्र शब्द ग्राहक इन्द्रिय तथा श्रोतव्य शब्दराशि। घ्राण-गन्धग्राहक इन्द्रिय घ्रातव्य गन्धादिक। रस-रसग्राहक इन्द्रिय तथा रसयितव्य-रसना ग्राह्य मधुरादिक छ प्रकार के रस। त्वक् स्पर्शादि ग्राहक इन्द्रिय विशेष। स्पर्शयितव्य त्वगिन्द्रिय ग्राह्य स्पर्शवान् द्रव्य तथा स्पर्श स्पर्शत्व और स्पर्शाभाव ये सब स्पर्शयितव्य विषय हैं। इतने प्रकरण से बाह्य ज्ञान इन्द्रिय तथा उनके विषयों का विवेचन किया गया है। अतः पर में कर्मेन्द्रिय का स्वरूप तथा उनके विषयों का विस्तार बतलाया जाता है-**'वाक् चेत्यादि'** वाक् अर्थात् शब्द के उच्चारण में साधन लक्षण वागिन्द्रिय। तथा वक्तव्य वाणी से उच्चारणीय वर्णपदादिक। हस्त-आदान का साधन इन्द्रिय

जिसे पाणी भी कहते हैं। आदातव्य पाणीन्द्रिय से ग्रहण करने के योग्य घटपटादिक पदार्थ। उपस्थ जननेन्द्रिय तथा आनन्दयितव्य जननेन्द्रिय साध्य आनन्द विशेष। पायु मल त्याग का साधन इन्द्रिय जिसका गुदा अपर नाम है। विसर्जयितव्य त्याग करने के योग्य कोष्ठान्तर्गत निःसार स्वरूपमलादिक। पादौ गमन का साधन इन्द्रिय विशेष। गन्तव्य ग्रामादिक देश। इससे कर्मेन्द्रिय तथा उनके विषयों का निर्वचन किया गया। मन-संकल्प विकल्प का साधन आन्तर ज्ञानेन्द्रिय। मन्तव्य उसका विषय संकल्पादिक। बुद्धि निश्चयात्मक वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण। बोद्धव्य उसका विषय जो कि निश्चेतव्य होता है। अहंकार अभिमानात्मक वृत्तिमान् अन्तःकरण। अहंकर्तव्य तदीय विषय जो अभिमन्तव्य होता है। चित्त स्मरणात्मक वृत्ति विशिष्टान्तःकरण। चेतयितव्य स्मरणीय वस्तु। तेज शरीर के अन्तर्गत तेजो धातु जो शरीरगत उष्णता से अनुमित होता है। विद्योतयितव्य शरीरगत तेज से प्रकाशित शरीरगत पदार्थ। प्राण अर्थात् प्राण वायु। विधारयितव्य प्राण वायु के द्वारा धारण करने के योग्य यह करण कलेवर। अचेतन कार्य करणरूप सब पदार्थ परमात्मा में प्रतिष्ठित हैं। यह बात इस मन्त्र से विस्तार रूपसे बतलाई गई है ॥८॥

एष द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥९॥

यही जीवात्मा देखनेवाला स्पर्श करनेवाला सुननेवाला सूंघने वाला स्वाद लेनेवाला मनन करनेवालाजानने वाला कर्म करनेवाला विज्ञानरूप पुरुष है यही नाशरहित सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म में संप्रतिष्ठित होता है ॥९॥

संप्रति चेतनस्य जीवात्मनोऽपि परब्रह्मणि प्रति ष्ठितत्वोक्त्या पूर्वोक्तसर्वशब्दार्थप्रश्नमवशिष्टं पूरयति- एष हि प्रसिद्धोऽयं सर्वेषां नः स्वरूपमात्मा यो द्रष्टा, चाक्षुषज्ञानवान् । स्प्रष्टा त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाश्रयः । श्रोता श्रावणप्रत्यक्षकर्ता । घ्राता घ्राणजन्यगन्धाद्य- नुभवी । रसयिता रसनेन्द्रियजन्यरसादिविषयकज्ञान वान् । मन्ता मनोरूपान्तरेन्द्रियजन्यसंकल्पाद्याश्रयः । बोद्धा निश्चयकर्ता । कर्ता कर्तृत्वधर्मवान् । विज्ञानात्मा विज्ञानमात्मा स्वरूपमस्य विज्ञानरूपः पुरुषो जीवात्मा स प्रसिद्धो जीवोऽपि परे सर्वतः समुत्कृष्टे अक्षरे क्षर णशून्येऽविनाशिनि आत्मनि परब्रह्मणि संप्रतिष्ठते प्रति ष्ठितो वर्तते । अनेन जीवात्मनोऽपि परमात्मनि प्रतिष्ठि तत्वमुक्त्वा सर्वशब्दार्थः साकल्येन प्रपञ्चितः ॥९॥

संप्रति चेतन जो जीवात्मा है उसका भी परमात्मा

में प्रतिष्ठितत्व है इस कथन से सर्वपदार्थ प्रपञ्चन जो अवशिष्ट रह गया था उसकी भी पूर्त्ति की जाती है। **'एष द्रष्टा'** इत्यादि। सर्वप्रसिद्ध यह प्रत्येक प्राणियों का स्वरूपभूत जो आत्मा वह द्रष्टा अर्थात् चाक्षुष ज्ञानवान् है। स्प्रष्टा त्वगिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का आश्रय है। श्रोता श्रावण प्रत्यक्ष का संपादक है। रसयिता रसनेन्द्रिय जनित रसादि विषयक ज्ञानवान् है। मन्ता मनोरूप इन्द्रिय जन्य संकल्पादिक का आश्रय है। बोद्धा निश्चय करनेवाला है। कर्ता कर्तृत्व धर्मवान् है। विज्ञानात्मा विज्ञान आत्मा स्वरूप जिसका एतादृश विज्ञान स्वरूप पुरुष जीवात्मा एतादृश प्रसिद्ध जीव भी पर सर्वापेक्षया उत्कृष्ट अक्षर क्षरण शून्य अर्थात् अविनाशी आत्मा में परब्रह्म श्रीरामजी में संप्रतिष्ठित होता है। इससे जीवात्मा को भी परमात्मा में संप्रतिष्ठितत्व कहकरके संपूर्ण रूपसे सर्वशब्द के अर्थ विस्तार का प्रदर्शन कराया ॥९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छाय मशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वोभवति तदेष श्लोकः ॥१०॥

हे सोम्य ? यह जो साधक है वह उस हेय कर्मों से रहित तथा प्राकृतिक शरीर रहित और प्रकृति सम्बन्धी रूपों से हीन एवं स्वप्रकाश स्वरूप अक्षर परब्रह्म श्रीरामतत्त्व को यथार्थ रूपसे जानता

है वह साधक परमश्रेष्ठ अक्षर तत्त्व परब्रह्म श्रीरामजी को ही प्राप्त करलेता है एवं जो कोई साधक सर्वज्ञ परपुरुष को प्राप्तकर सर्वज्ञ हो जाता है वह साधक सर्वकामनाओं से संयुक्त हो जाता है। इस विषय में आगे का श्लोक पठित है ॥१०॥

सर्वप्रतिष्ठाधारस्य परमात्मन एव रूपताज्ञानस्य फलमधुना वदति परमिति। तत् पूर्वोक्तम्-अच्छायम् छाया कामकर्मात्मिका माया तया रहितम्। प्रकृत्यन धीनमित्येतत्। अत एवाशरीरं प्राकृतशरीरशून्यम्। अलोहितं लोहितादिरूपशून्यम्। शुभ्रम् स्वप्रकाशं दोषगन्धरहितं वा। अक्षरं क्षरणविवर्जितमविना-शीत्येतत्। परमात्मानं वेदयते समुपास्ते। सोऽधिकारी परमेवाक्षरं परब्रह्मैव प्रतिपद्यते प्राप्नोति। हे सोम्य प्रियदर्शन यस्तु परमक्षरं प्रतिपद्यते स सर्वज्ञो भवति न हि तादृशं वस्तु यत्तेन ज्ञातं न भवति। सर्वो भ वति। अवाप्तसमस्तकामो भवति। तदक्षरं ब्रह्माधि कृत्यैषो वक्ष्यमाणः श्लोको मन्त्रो भवति। वक्ष्यमाणो मन्त्रोऽक्षरब्रह्मणः सर्वाधारत्वं तद्वेदिनः तत्प्राप्तिं सर्व ज्ञत्वं सर्वकामत्वं च संगृह्य प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥१०॥

सर्वपदार्थ की प्रतिष्ठा अर्थात् आधारभूत जो पर मात्मा तादृश परमात्मा के स्वरूप ज्ञान का फल बतलाते हैं-**'परमेवाक्षरम्'** इत्यादि। तत् पूर्व प्रतिपादित सर्वा धार परमात्म स्वरूप वह अच्छाय है अर्थात् छाया कहते

हैं काम कर्मात्मिका माया को तादृश माया से रहित आत्म स्वरूप है अर्थात् प्रकृति के अधीन नहीं है। अत एव अशरीर है प्रकृति जनित शरीर शून्य है। अलोहित लोहित कृष्णादिरूप रहित है। परमात्मस्वरूप शुभ्र स्व प्रकाश है अथवा दोष गन्ध रहित है। अक्षर क्षरण विनाश वर्जित है अर्थात् अविनाशी है एतादृश परमात्मा को जो जानता है अर्थात् उपासना करता है वह अधि कारी पर अक्षर परब्रह्म को प्राप्त करता है। हे सोम्य प्रियदर्शन ? जो पुरुष उपासक उपासना के द्वारा उस परब्रह्म अयोध्यापति श्रीरामजी को प्राप्तकर लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है अर्थात् तादृश कोई भी पदार्थ नहीं है जिसे वह नहीं जानता है। वह सर्व होता है अर्थात् अवाप्त सकल काम हो जाता है। उस अक्षर परब्रह्म को अधिकृत करके यह वक्ष्यमाण श्लोक मन्त्र भी होत्ता है। वक्ष्यमाण जो मन्त्र है वह अक्षर परब्रह्म में सर्वाधारता तथा तादृश ब्रह्मज्ञानी को भगवत् प्राप्ति सर्वज्ञत्व अवाप्त सर्वकामत्वादि का संग्रह करके बतलाता है ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥११॥

卐 इति प्रश्नोपनिषदि चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥ 卐

हे सोम्य ? जिस परमपुरुष श्रीरामजी में मुख्यप्राणादि सभी प्राण एवं पंचमहाभूत तथा सभी वाणी प्रभृति इन्द्रियों के साथ विज्ञानात्मा यानी जीव संप्रतिष्ठित हो जाते हैं एवं सर्वमल रहित उस अक्षरतत्त्व श्रीरामजी को जो साधक जान लेता है वह साधक सर्वज्ञ हो जाता है तथा सभी लोकों में इच्छा के अनुसार प्रवेश करने में समर्थ होता है ॥११॥

卐 इतिलघुदीपिकायां, चतुर्थः प्रश्नः 卐

विज्ञानात्मा विज्ञानस्वरूपो जीवः सर्वैः चक्षुरादिभिर्देवैरिन्द्रियैरमुख्यप्राणभूतैः सह यत्र संप्रतिष्ठति, तथा प्राणाः मुख्यप्राणाः प्राणापानादयो भूतानि सूक्ष्मस्थूलानि यत्र परमात्मनि संप्रतिष्ठन्ति, पूर्वोक्तरीत्या प्रतिष्ठितानि सन्ति तत् स्वप्रकाशमक्षरं क्षरणरहितं परब्रह्म वेदयते जानाति उपास्त इत्येतत् । यस्तु अधिकारी, हे सोम्य स सर्वज्ञः सन् सर्वमेवाविशति । सर्वानपि कामानवाप्नोति । 'कामन्ती कामरूप्यनुसंचरन्' सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, इत्यादिश्रुत्यनुसारेण यद्यत् कामयते तेन तेन रूपेण सर्वलोकसंचरणकर्त्ता भवतीत्यर्थः । अत्र विज्ञानात्मेतिपदेन विज्ञानरूपता, एष हि द्रष्टेत्यनेन पूर्वमन्त्रोक्तेन विज्ञातृरूपता च जीवस्य प्रतिपादिता भवति । अतः केवलविज्ञानरूपतावादिनः केवलविज्ञातृरूपतावादिनश्च मतमपाकृतं भवति ॥११॥

卐 इतिभगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते प्रश्नोपनिषद
आनन्दभाष्ये चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥ 卐

'विज्ञानात्मेत्यादि' विज्ञानात्मा विज्ञानस्वरूप जीव सभी चक्षुरादिक देव अमुख्य प्राणों के साथ जिसमें प्रतिष्ठित रहता है। तथा प्राण अर्थात् मुख्यप्राण अपान व्यानादिक तथा स्थूल सूक्ष्मभूत समुदाय जिस परमात्मा में संप्रतिष्ठित हैं। उस स्वप्रकाश क्षरण वर्जित परमात्मा सर्वेश्वर श्रीरामजी को जो उपासक जानता है अर्थात् उपासना करता है। और जो अधिकारी तादृश ब्रह्म को जानता है वह अधिकारी परब्रह्मोपासना के बल से हे सोम्य ? वह सर्वज्ञ होता हुआ सर्वकाम को प्राप्त करता है। **'कामनावान्'** यथेच्छरूप को धारण करके सर्वलोक में यथेच्छ चरणशील होता है, इत्यादि श्रुति के अनुसार जिन जिन वस्तुओं की कामना करता है तत्तद्रूप हो करके यथाकाम संचरण करता है। यहां–**'विज्ञानात्मा'** इस पद से आत्मा को विज्ञानरूपत्व तथा–**'द्रष्टा'** इस पद से पूर्व मन्त्रोक्त विज्ञातृरूपत्व का जीव में प्रतिपादन किया गया है। इससे जो केवल जीव को विज्ञानरूपत्व कहते हैं तथा जो केवल विज्ञातारूप ही मानते हैं उन दोनों के मत का निराकरण किया गया है ॥११॥

इति भगवद्रामानन्दाचार्यविरचितप्रश्नोपनिषदः
श्रीआनन्दभाष्यप्रकाशे चतुर्थः प्रश्नः

卐 卐 卐

卐 अथ पञ्चमः प्रश्नः 卐

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः प्रपच्छ। स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥१॥

महर्षि गार्ग्य के वाद इन प्रसिद्ध महर्षिजी पिप्पलाद से शिवि के पुत्र सत्यकाम ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ? मनुष्यों में प्रसिद्ध जो साधक व्यक्ति है वह प्राणान्त तक उस ओम् कार का सर्वतोभाव से ध्यान करता है वह ॐकार की उपासना के फलस्वरूप किस लोक को प्राप्त करता है यह मेरी जिज्ञासा है ॥१॥

अथ सौर्यायणीप्रश्नानन्तरम्, शैब्यः शिबेरपत्यं पुमान् सत्यकामः सत्यकामनामा शैब्यः पप्रच्छ पृष्टवान्। स यः कोऽप्युपासको जीवो मनुष्येषु मध्ये हे भगवन् पूजार्हपिप्पलाद ! प्रायणान्तं प्रकर्षेण अयनं प्रायणं मरणं तदन्तो यस्याभिध्यानस्य तत्प्रायणान्तम्। क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकत्वमेकवचनं च बोध्यम्। यावज्जीवमित्यर्थः। ओङ्कारमोमित्येतदक्षरमभिध्यायीताभितश्चिन्तयेत्। ओङ्कारार्थपरमपुरुषमोङ्काराऽऽलम्बनेन चिन्तयतीत्यर्थः। स ओङ्काराभिध्यायी तेन ओङ्कारेणालम्बनेन ध्यानेन कतमं ज्ञानकर्मभ्यां जेतव्येषु

लोकेषु कं लोकं जयति प्राप्नोतीति । अत्र मन्त्रे हवा इत्यव्ययं प्रसिद्धिद्योतकम् । वावशब्दस्तु निश्चयाव बोधकः ॥१॥

'**अथ हैनमित्यादि**' अथ सौर्यायणीजी के प्रश्न के वाद शिबि के अपत्य नाम से सत्यकाम ऋषि ने इन पिप्पलाद मुनिजी से प्रश्न किया-हे भगवन् पूजनीय ? जो कोई उपासक जीव मनुष्यों के मध्य में आप्रायणान्त प्रकृष्ट जो अयन गमन अर्थात् मरणत्व ही है अन्त समाप्ति जिसकी ऐसा अभिध्यान उसे कहते हैं प्रायणान्त अभिध्यान । क्रिया विशेषण विशेषण में नपुंसकत्व तथा एक वचन होता है इस नियम से नपुंसक तथा एकवचन का प्रयोग है '**प्रायणान्तम्**' इसमें । अर्थात् जीवनपर्यन्त ध्यान करता है ओंकार का चिन्तन करता है अर्थात् ओंकार वाच्य परमपुरुष का ध्यान ओंकार द्वारा करता है। वह ओंकार का ध्यान करनेवाला ओंकाररूप आ लम्बन से ज्ञान कर्म द्वारा जेतव्य लोकों के मध्य में किस लोक को जीतता है अर्थात् प्राप्त करता है । इस तरह से सत्यकाम ने प्रश्न किया । यहां ह वा यह प्रसिद्धार्थक है और वा शब्द निश्चयार्थक है ॥१॥

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम ? परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवा

यतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

उन प्रसिद्ध पिप्पलाद महर्षिजी ने सत्यकाम से कहा हे सत्य काम? जो यह ओंकार है वह पर-कारण ब्रह्म तथा अपर-कार्य ब्रह्म है अतः विद्वान् साधक इस ओंकाररूप मार्ग के द्वारा पर या अपर में से किसी एक ब्रह्म की साधना करता है ॥२॥

स पिप्पाद एवं पृष्टवते सत्यकामायोवाचोक्तवान् हे सत्यकाम यत् योऽयमोङ्कार एतदेव परमपरं च ब्रह्मोभयविधब्रह्मवाचकत्वादोंकारः परमपरं च ब्रह्मे तिसामानाधिकरण्यनिर्देशः । परं ब्रह्म पूर्वप्रश्नो मक्षरपदवाच्यम् । अपरं ब्रह्म हिरण्यगर्भरूपम् विधस्यापि ब्रह्मणोऽभिध्यान आलम्बनमों स्माद् हेतोः विद्वानोङ्कारास्य पराऽ नत्वज्ञानी उपासक एतेनैव ओ आलम्बनेन प्रतीकेनेतिया ब्रह्म अन्वेति अनुग

पूर्वोक्त प्र

कहा हे

अप

ब्र

उपासना

अभिध्यान में ओंकार आलम्बन है । इसी कारण से विद्वान् अर्थात् ओंकार को परापररूप ब्रह्म के ध्यान में आलम्बन जानने वाले उपासक इसी ओंकाररूप आयतन आलम्बन से एकतर पर अथवा अपर ब्रह्म की उपासना करते हैं । इसप्रकार पिप्पलाद महामुनि ने सत्यकाम से कहा ॥२॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

वह ओंकारोपासक यदि एकमात्रा वाले अपर ब्रह्मरूप ओंकार से अच्छी प्रकार से साधना करता है तो वह साधक उस साधना से ही सत् ज्ञान प्राप्तकर शीघ्र ही संसार में श्रेष्ठता को प्राप्तकर जाता है एवं उस साधक को ऋग्वेद के मन्त्र मनुष्य देह को प्राप्त करा देते हैं । तब वह उपासक मनुष्य देह में तप एवं ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न हो जाता है अनन्तर श्रीराम सायुज्य प्रापक उपासना का अनुभव तथा अनुष्ठान करता है ॥३॥

प्रथममपरब्रह्मोपासनफलं प्रदर्शयति-स उपास[illegible] एकमात्रमेका मात्रा यस्य तादृशं ह्रस्वमोङ्कार[illegible]। वाचकमभिध्यायीताभिध्यायति । उपा[illegible]कामं ? परं एकमात्रविभागो यदि ह्रस्वमे[illegible]रः । तस्माद्विद्वानेतेनैवा

ह्योपास्ते इतिभावः । स उपासकः तेनैव एकमात्रेणोङ्कारेण संवेदितः संवेदनं विज्ञानं प्रापितः । अपर ब्रह्मसाक्षात्कारमापादित इत्येतत् । तूर्णं शीघ्रमेव जगत्यां भुवि अभिसंपद्यते प्राप्नोति । किमभिसम्पद्यत इत्यत्राह-तं ह्रस्वप्रणवोपासकम् । ऋच ऋग्वेदमन्त्रा मनुष्यलोकं मानुषं शरीरम् । उपनयन्ते प्रापयन्ति । स पृथिव्यां जायमानो ह्रस्वप्रणवोपासनवशान्न पश्वादिशरीरं प्राप्नोति किन्तु मनुष्यशरीरमेवेत्यर्थः । स उपासकः तत्र मनुष्यशरीरे तपसा चान्द्रायणादिना । ब्रह्मचर्येणाष्टविधमैथुनविवर्जनेन । श्रद्धया आस्तिक्य बुद्ध्या । सम्पन्नः युक्तः सन् महिमानं मानुषीं श्रेष्ठां विभूतिमनुभवति । मनुष्यशरीरोऽपि जीवः तपः प्रभृति विवर्जितो दुर्गतिमनुभवन् दृश्यते पृथिव्याम् । अयं तु तथा न भवति । सोऽयमोङ्कारमेकमात्रमालम्ब्यापर ब्रह्मोपासनप्रभाव इतिभावः ॥३॥

सर्वप्रथम अपर ब्रह्म की उपासना के फल को बतलाते हैं-**'सयद्येकमित्यादि'** वह उपासक एकमात्र, एक ही है मात्रा जिसमें एतादृश ह्रस्व ओंकार जो अपर ब्रह्म का वाचक है उसका ध्यान करता है अर्थात् उपासना करता है अर्थात् एकमात्र विभाग वाला ह्रस्व प्रणव का आलम्बन करके अपर ब्रह्म की उपासना करता

है। तब वह एकमात्र प्रणव द्वारा उपासक उसी एकमात्र ओंकार से संवेदित विज्ञान प्राप्त अर्थात् अपर ब्रह्म के साक्षात्कार को प्राप्त किया हुआ अतिशीघ्र पृथिवी में आता है। उस ह्रस्व प्रणवोपासक को ऋग्मन्त्र मनुष्य सम्बन्धी शरीर को प्राप्त कराते हैं। वह पृथिवी में समुत्पद्यमान पुरुष ह्रस्व प्रणव की उपासना के बल से पशु प्रभृतिक शरीर को नहीं प्राप्त करता है किन्तु मनुष्य शरीर को ही प्राप्त करता है। वह उपासक उस मनुष्य शरीर में तपस्या चान्द्रायणादि व्रत से अष्टविध मैथुन परित्याग लक्षण ब्रह्मचर्य से आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा से अभिसंपन्न युक्त हो करके महिमा मनुष्य सम्बन्धी श्रेष्ठ विभूति का अनुभव करता है। मनुष्य शरीर को प्राप्त करके भी जीव तपः प्रभृति से विवर्जित होकर के दुर्गति का अनुभव करता हुआ इस पृथिवी में देखने में आता है। किन्तु यथोक्त उपासक ऐसा नहीं होता है। वह यह एकमात्र ओंकार की एकमात्रा को आलम्बन करके जो अपर ब्रह्म की उपासना है उसका यह प्रभाव है ॥३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥४॥

जो ओंकारोपासक यदि दो मात्रा वाले अपर ब्रह्म के वाचक दीर्घ ओंकार से मन में अपर ब्रह्म की साधना करता है वह अन्तरिक्ष में स्थित चन्द्रलोक की ओर यजुर्वेद मन्त्रों के द्वारा ले जाया जाता है वह साधक वहां चन्द्रलोक में विभूति-ऐश्वर्य को भोगकर पुनः वापस मृत्युलोक में आता है ॥४॥

अथशब्दः फलान्तरकथनोपक्रमे । फलान्तर मभिधत्त इत्यर्थः । यदि द्विमात्रेण दीर्घेण प्रणवेन अप रब्रह्मवाचकेनालम्बनेन मनसि सम्पद्यत अपरं ब्रह्म मनसि ध्यायति तदा स उपासको यजुर्भिर्यजुर्मन्त्रैरन्त रिक्षमन्तरिक्षगतं सोमलोकं चन्द्रलोकमुन्नीयते प्राप्यते । उपलक्षणमेतदूर्ध्वलोकानां हिरण्यगर्भलोकपर्यन्ता नामितरेषामपि । स द्विमात्रोङ्काराभिध्यायी सोमलोके तदुपलक्षिते लोकान्तरे वा विभूतिभूततत्तल्लोकोचि तमैश्वर्यमनुभूय भुक्त्वा पुनरावर्तते मनुष्यलोकं प्रति पुनरागच्छति पुण्यक्षये सति अपरब्रह्मोपासकानां पुन रावृत्तिभावात् । क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती तिश्रुतेः ॥४॥

'अथ यदीत्यादि' अथ शब्द फलान्तर का वाचक है अर्थात् फलान्तर को कहता है। यदि द्विमात्र अर्थात् दीर्घ प्रणव अर्थात् अपर ब्रह्म वाचक आलम्बन से मन में संपन्न होता है अर्थात् अपर ब्रह्म का ध्यान मन में करता है। तब वह उपासक यजु मन्त्र से अन्तरिक्ष

स्थित सोमलोक को प्राप्त होता है । यह सोमलोक उपलक्षक है इसलिये ऊर्ध्वलोक हिरण्यगर्भलोक पर्यन्त लोक का तथा तदितर लोक को भी समझाता है । वह द्विमात्र ओंकार का अभिध्यान करनेवाला पुरुष सोमलोक में अथवा सोमलोकोपलक्षित लोकान्तर में विभूति लक्षण तत्तल्लोकोचित ऐश्वर्य का अनुभव करके अर्थात् तादृश फलोपभोग करके पुनः लौट करके इस मनुष्य लोक में आता है । पुण्यकर्म का उपभोग क्षय हो जाने पर अपर ब्रह्मोपासक पुरुष का पुनरावर्तन अवश्यंभावी है । 'पुण्यकर्म के विनाश हो जाने पर मर्त्यलोक में पुनः आ जाते हैं' ऐसा श्रुत्यन्तर स्मृत्यन्तर में भी कहा गया है । सोमलोक प्राप्ति का कारण जो पुण्य विशेष उसके नाश हो जाने पर तादृश पुण्य का कार्य जो तादृश लोक स्थित फल वह भी विनष्ट हो जाता है जिस तरह कपाल के नाश हो जाने पर घट का नाश हो जाता है ॥४॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर मपुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्म लोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं

पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५॥

पुन जो ओंकारोपासक साधक परब्रह्म का वाचक प्लुत तीन मात्रा वाले ॐ इसप्रकार के अक्षर से ही परब्रह्म का सतत ध्यान करता है वह साधक तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त कर जाता है। जिस प्रकार सर्प केचुली से विमुक्त हो जाता है उसी प्रकार यह ओंकारो पासक भी सभी पापों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अनन्तर वह साधक सामवेद के मन्त्रों द्वारा ब्रह्मलोक-परमधाम श्रीसाकेत की ओर ले जाया जाता है। वहां पर इस जीव समुदाय स्वरूप जगत् से पर-विशुद्ध स्वरूपात्मा से भी पर-सर्वश्रेष्ठ सभी के शरीर रूप पुर में शयनशील अन्तर्यामी पुरुष उपाधि से रहित सर्वेश्वर श्रीरामजी का साक्षात् दर्शन करलेता है। इस विषय में आगे के दो श्लोक पठित हैं ॥५॥

य उपासकः पुनरेतं परमपुरुषं परमात्मानं श्री रामं त्रिमात्रेण प्लुतोच्चारणेन त्रिमात्रस्य प्लुतत्व प्रसिद्धेः। ओमित्यनेनैवाक्षरेण ओङ्कारेणैवालम्ब-नभूतेनाभिध्यायीताभिमुख्येन चिन्तयति। उपास्त इत्ये तत्। स त्रिमात्रोंकारालम्बनेन परमपुरुषध्यानकर्ता ते जसि तेजोमण्डलाकारे सूर्ये आदित्ये सम्पन्नः संगतः। तत्र गत इत्येतत्। पादोदरः पादः पादेन्द्रियं गमन साधनमुदर उदरप्रदेशे यस्य स पादोदरः सर्पः। स यथा त्वचा जीर्णया त्वचा कञ्चुकेनेत्यर्थः। विनिर्मुक्तो भवति। स्थानविशेषसंश्लेषं प्राप्य सर्पः कञ्चुकं विमुञ्चतीत्यर्थः। ह वै शब्दौ कञ्चुकविमोकस्य सर्प क्तस्य प्रसिद्धिं बोधयतः। एवं सर्वकञ्चुकविमोक

दृष्टान्तेन पाप्मना मुक्तिप्रतिबन्धकेन पुण्यपापस्वरूपेण कर्मणा विनिर्मुक्तो विरहितो भवतीति शेषः । सर्पः इवोपासकोऽपि सूर्यमण्डलरूपस्थानविशेषसम्बन्धमेत्य पाप्मना विनिर्मुक्तो भवतीतिभावः । स पाप्मना वि निर्मुक्त उपासकः सामभिः साममन्त्रैर्गायनप्रधा- नैर्ब्रह्मलोकं ब्रह्मणः परमात्मनः श्रीरामस्य लोकः तं ब्रह्मलोकं भगवद्धामसाकेताभिधानम् । उन्नीयत ऊर्ध्वं प्राप्यते । स ब्रह्मलोकं प्राप्त उपासकः । तत्र ब्रह्मलोके एतस्माद् दृश्यमानाज्जीवघनात् । मूर्तौ घनशब्दस्या नुशासितत्वाद् मूर्तिर्घनः स च जीवसम्बन्धितया जीव घनः क्षरः पुरुषः तस्माज्जीवघनात् क्षरपुरुषादपि परात् श्रेष्ठभूताज्जीवादक्षरात् परं श्रेष्ठतमं पुरिशयं पूः शरीरं प्राणिमात्रस्य, तत्र पुरि शेत इति पुरिशयः तम् सर्वप्राणिहृदयगुहायामन्तर्यामितया विद्यमानं पुरुषं मुख्यतया पुरुषशब्दाभिधेयं पुरुषसूक्तादिप्रसिद्धं भग वन्तं पुरुषोत्तमं श्रीरामचन्द्रमीक्षते पश्यति । द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः । इतिभगवद्गीतामिहोपवृहणं ज्ञेयम् । तत् प्रणवायतनं ध्यानमधिकृत्य एतौ वक्ष्यमाणौ श्लोकौ

मन्त्रौ भवतः प्रवृत्तौ स्तः ॥५॥

'यः पुनरेतम्' इत्यादि । जो उपासक परमपुरुष परमात्मा श्रीरामजी को त्रिमात्र ओंकार से प्लुतोंच्चारण से त्रिमात्र में प्लुतत्व प्रसिद्ध है । ओमित्याकारक अक्षर ओंकाररूप आलम्बन द्वारा ध्यान करता है अर्थात् परब्रह्म की उपासना करता है । वह उपासक त्रिमात्रोंकार लक्षण आलम्बन पुरुष परमात्मा का ध्यान करनेवाला तेजो मण्डलाकार सूर्य में संपन्न होता है अर्थात् सूर्य में जाता है । जिस तरह पादोदर-पादेन्द्रिय गमन का साधन उदर में है जिसे उसे पादोदर सर्प कहते हैं वह सर्प जिस तरह जीर्ण त्वचा कञ्चुक से विनिर्मुक्त होता है । (स्थान विशेष के सम्बन्ध को प्राप्त करके कञ्चुक को छोडता है ।) ह शब्द तथा वै शब्द सर्पकृत कञ्चुक विमोक परित्याग की प्रसिद्धि को बतलाते हैं । इस तरह सर्प कञ्चुक विमोक दृष्टान्त से वह उपासक पाप्मा से मोक्ष प्रतिबन्धक पाप पुण्यरूप कर्म से विनिर्मुक्त हो जाता है । अर्थात् सर्प के समान उपासक भी सूर्यमण्डल रूप स्थान विशेष के सम्बन्ध को प्राप्त करके पापपुण्य से विनिर्मुक्त हो जाता है । पाप्मा से विनिर्मुक्त उपासक साम मन्त्र द्वारा ब्रह्मलोक-भगवान् श्रीरामजी का लोक-श्रीसाकेतधाम को प्राप्त करता है । वह ब्रह्मलोक को प्राप्त

किया हुआ उपासक इस दृश्यमान ज़ीव घन से अर्थात् क्षर से परात्पर अतिश्रेष्ठ पुरिशय अन्तर्यामी रूपसे प्राणीमात्र की गुहा में अवस्थित भगवान् श्रीरामजी को देखता है। 'इसलोक में दो पुरुष हैं एक क्षर तथा दूसरा अक्षर। उसमें सर्वभूत क्षर पदवाच्य है और कूटस्थ अक्षर पदवाच्य है। इन दोनों से भिन्न पुरुषोत्तम परमात्मा हैं' इत्यादि गीता वाक्य भी इसका उपोद्बलक हैं। इस प्रणव को अधिकृत करके जो ध्यान है उसे लक्षित करके दो मन्त्र होते हैं ॥५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्य सक्ता अनविप्रयुक्ता। क्रियासु बाह्याभ्यन्तर मध्यमासु। सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

अतिशीघ्र उच्चारण से रहित तथा परस्पर में संयुक्त रूपसे प्रयुक्त ओंकार के तीन 'अ' 'उ' 'म' मात्राएं इच्छित फल देनेवाली नहीं होती हैं। पर यज्ञ प्रभृति में बाह्य क्रिया मानस में भीतरी क्रिया तथा मध्य में वाचिक-जपस्वरूप क्रियाओं में अच्छी प्रकार प्लुतरूप से प्रयुक्त ओंकारोपासना द्वारा परब्रह्म श्रीरामजी को जानने वाला साधक परतत्त्व श्रीराम प्राप्तिरूप फल से विचलित नहीं होता है ॥६॥

तिस्रः त्रित्वसंख्याकाः प्रणवस्य मात्रा मृत्युमत्यो मृत्युर्विद्यते कार्यं यासां ता मृत्युमत्यो मृत्युप्रदा अनर्थफलदायिका भवन्ति। कदा कस्येत्याकांक्षायामाह-

अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुताः प्रयुक्ता अन्योन्यं परस्परं शीघ्रगत्योच्चारणेन सक्ता अतिश्लिष्टाः । विशेषेण काल विशेषक्षेपेण प्रयुक्ता विप्रयुक्ता न विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता तथा न भवन्तीत्यविप्रयुक्ता मन्दगत्योच्चारणे नातिविश्लिष्टवर्णतया समुच्चारिताः । एवं भूता यदि प्रयुक्ता उच्चरिता भवन्ति तदा तस्य प्रणवोच्चारण-रहस्यज्ञानविधुरस्य प्रयोक्तुरनर्थावहा भवन्तीतिभावः । आसु तिसृषु मात्रासु बाह्यान्तरमध्यमासु क्रियासु बहिर्भूता बाह्याः क्रिया यज्ञहोमादिकाः कायसम्बन्धिन्यः क्रियाः । अन्तरे मनसि भवा आन्तरा मानसजपध्यानादिरूपाः । मध्यमा कायमनसोरन्तरालवर्तिन्यो वाचिक्यो जपादिरूपाः । तासु क्रियासु सम्यक् प्रयुक्तासु अत्यन्तसंश्लेषविश्लेषवर्जनपुरस्सरमुच्चारितासु । ज्ञ-स्तादृशप्रणवोच्चारणरहस्यवेदी जनो न कम्पते फलतश्च्युतो न भवति । तिसृणां मात्राणां सम्यक् प्रयोगे फललाभोऽसम्यक् प्रयोगे तु महाननर्थ इतिभावः ॥६॥

'तिस्रो मात्रा' इत्यादि । तीन संख्या अकार उकार और मकार प्रणव की मात्रायें मृत्युमती हैं, मृत्युरूप कार्य है जिसका उसे मृत्युमती कहते हैं एतादृश मृत्युप्रदः अनर्थ फल देनेवाली होती है । कब किसे मृत्युप्रद होती है ? इस जिज्ञासा में कहते हैं- **'अन्योन्य**

सक्ता अनविप्रयुक्ता' इति । अन्योन्य परस्पर शीघ्रगति से उच्चारण करने के कारण सक्त अर्थात् अतिश्लिष्ट विशेष काल विशेष के क्षेप से प्रयुक्त उसे विप्रयुक्त कहते हैं, नहीं विप्रयुक्त को अविप्रयुक्त कहते हैं । ऐसा न हो उसे अनविप्रयुक्त कहते है अर्थात् मन्दगति से अत्यन्त विश्लिष्ट वर्ण से समुच्चारित । एतादृश हो करके यदि प्रयुक्त अर्थात् उच्चारित होता है । तदा तब उस प्रणव के उच्चारण रहस्य ज्ञान रहित प्रणव प्रयोक्ता के लिये अनर्थप्रद होती हैं । इन तीनों मात्रा में बाह्या भ्यन्तर मध्यम क्रिया में बाहर में होनेवाली यज्ञ होमादि कार्य सम्बन्धिनी क्रिया, अन्तर मन में होनेवाली मानस जप ध्यानादिक क्रिया मध्यम कलेवर तथा मन के मध्य में वाचिक जप पाठादि क्रिया । इन तीनों प्रकार की क्रियाओं में सम्यक् प्रयुक्त में अत्यन्त संश्लेष विश्लेष वर्जन पूर्वक समुच्चारित क्रियाओं में । एतादृश प्रण वोच्चारण रहस्य वेदी पुरुष कम्पित नहीं होता है अर्थात् फल प्राप्ति से च्युत नहीं होता है । तीनों मात्राओं के समीचीन रूपसे प्रयोग करने पर फल का लाभ होता है और सम्यक् प्रयोग न करने से फल के बदवे महान् अनर्थ की प्राप्ति होती है ऐसा मन्त्र का भाव है ॥६॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्क

वयो वेदयन्ते । तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७॥

卐 इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥ 卐

ह्रस्व ओंकारोपासना से साधक ऋग्वेद के मन्त्र द्वारा मृत्युलोक पाता है तथा दीर्घ ओंकारोपासना से यजुर्वेद मन्त्र द्वारा अन्तरिक्ष चन्दलोक पाता है प्लुत ओंकारोपासना से कवि-तत्त्वदर्शी साधक को सामवेद के मन्त्रों द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति होती है। विद्वान् साधक ओंकाररूप मार्ग से ही उस परब्रह्म श्रीरामजी को प्राप्त हो जाता है। जो कि वह परतत्त्व श्रीरामजी शान्त अजर अमृत तथा अभय एवं सभी तत्त्वों से पर है ॥७॥

ऋग्भिः ऋड्मन्त्रैरेतं मनुष्यलोकम् । यजुर्भिर्यजुर्मन्त्रैरन्तरिक्षलोकम् । चतुर्मुखलोकपर्यन्तमन्तरिक्षोपलक्षितं लोकमित्यर्थः । कवयः क्रान्तदर्शिनः सूरयो यत् तद् वेदयन्ते पश्यन्ति विष्णोः परमपदरूपं लोकम् । साकेताख्यमिति यावत् । तं लोकं च विद्वान् एतेनैवैकमात्रद्विमात्रत्रिमात्ररूपेणोङ्कारेणायतनेनालम्बनेन अन्वेत्यनुगच्छति । ततश्च शान्तं षडूर्मिविवर्जितम् । अजरं जराभयविनिर्मुक्तम् । अमृतं मरणसम्पर्कशून्यम् । अभयं सर्वविधभयरहितम् । परमुत्कृष्टम् । सर्वतः श्रेष्ठमिति यावत् । यत् परं ब्रह्म तदप्यन्वेति । प्राप्नोतीत्यर्थः । त्रिमात्रप्रणवायतनरूपपरमपुरुषं ध्यात्वा साकेताख्यं भगवद्धाम गत्वा तत्र शान्तत्वादिविशेषण

विशिष्टं श्रीरामाख्यं परंब्रह्म प्राप्तो भवतीतिभावः ।७।

卐 इति भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते प्रश्नोपनिषद आनन्दभाष्ये पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥ 卐

'ऋग्भिरेतम्' इत्यादि । ऋगभिमानी मन्त्र देव के द्वारा उपासक भूलोक को प्राप्त करता है। यजुर्मन्त्र के द्वारा अन्तरि क्षलोक को प्राप्त करता है । यहां अन्तरि क्षलोक उपलक्षक है अर्थात् अन्तरिक्षलोक से लेकर चतुर्मुखलोक पर्यन्त लोक को प्राप्त करता है । और साम मन्त्र के द्वारा कवि क्रान्तदर्शी वि द्वान् लोग जिस विष्णु के परमपदरूप श्रीसाकेतलोक को देखते हैं तादृश साकेत लोक को विद्वान् उपासक इसी एकमात्र द्विमात्र त्रिमात्र लक्षण ओंकार का आलम्बन करके प्राप्त करते हैं । जो साकेतलोक शान्त है अर्थात् छ प्रकार की उर्मियों से रहित है । अजर जराभय रहित है अमृत है मरण के स्पर्श से शून्य है । अभय है सर्वप्रकारक भय से रहित है । परम उत्कृष्ट है अर्थात् सर्वापेक्षया अत्युत्तम है ऐसा जो परब्रह्म श्रीराम है उसे प्राप्त करता है । अर्थात् त्रिमात्र प्रणवरूप परम पुरुष की उपासना करके साकेत नामक भगवद्धाम को प्राप्त करके वहां शान्तत्वादि प्रदर्शित गुण विशिष्ट श्रीरामाख्य परमब्रह्म को प्राप्त होता है तथा सदा के लिये संसारभय से विमुक्त हो जाता है ॥७॥

इति भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते प्रश्नोपनिषदः श्रीआनन्दभाष्यस्यप्रकाशे पञ्चमः प्रश्नः

卐 अथ षष्ठः प्रश्नः 卐

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत् । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति । समूलो ह वा एष परिसुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तुष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१॥

महर्षि सत्यकाम के वाद प्रसिद्ध उन महर्षि पिप्पलादजी से भरद्वाज महर्षि के पुत्र महर्षि सुकेशा ने प्रश्न किया कि हे भगवन् पूजनीय महर्षि ? कोशल देश के राजा हिरण्यनाभ नामक राजकुमार ने मेरे पास आकर इस प्रश्न को पूछा कि हे भारद्वाज ? सोलह कला वाले पुरुष को जानते हो मैंने उस राजकुमार को कहा मैं इस पुरुष को नहीं जानता हूँ । यदि मैं इस सोलह कलावाले पुरुष को जानता तो तेरे जैसे जिज्ञासु को क्यों नहीं कहता जो जानते हुये झूठ बोलता है वह अवश्य ही समूल नाश हो जाता है अतः झूठ नहीं बोल सकता हूं मेरे उत्तर से चुप होकर रथ में चढकर चला गया । सोलह कलावाले उस पुरुष को आपसे पूछाता हूँ वह सोलह कलावाला पुरुष

कहां रहता है यह मेरी जिज्ञासा है ॥१॥

अथ सत्यकामप्रश्नानन्तरं सुकेशा नामतो भारद्वाजो भरद्वाजगोत्रोत्पन्नः शिष्य एनं पिप्पलादं पप्रच्छ पृष्टवान् । ह प्रसिद्धमेतत् । निश्चितं वेत्यर्थः । भगवन् पूजार्हपिप्पलाद हिरण्यनाभो हिरण्यनाभनामा कौशल्यः कोशलदेशोद्भवः कोशलायाः पुत्रो वा राजपुत्रो राज्ञः पुत्रो जात्याक्षत्रिय इत्यर्थः । मामुपेत्य मत्समीपमागत्यैवं वक्ष्यमाणं प्रश्नमपृच्छत् पृष्ठवान् । प्रश्नाकारमाह-हे भारद्वाज षोडशकलं षोडशसंख्याकाः कला यत्र तादृशम् । कलाः प्राणाद्या वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः । पुरुषं वेत्थ जानासि किम् ? तं षोडशकल-पुरुषपृच्छाकर्त्तारं हिरण्यनाभं कुमारं राजपुत्रमहमब्रुवं प्रोक्तवान् । किमित्याह-अहं सुकेशा इमं षोडशकलं पुरुषं न वेद न जानामि । यदि अहमिमं पुरुषमवेदिषम् जानीयाम् तर्हि ते तुभ्यं श्रद्धावते जिज्ञासवे राजकुमाराय शिष्याय योग्याय कथं केन हेतुना नावक्ष्यम् न ब्रूयामिति । एतावत्कथनेऽपि तमनृतत्वशङ्कयाऽविश्वस्तमिव ज्ञात्वा विश्वासोत्पादनाय पुनरुक्तवान् समूलो मूलेन सहित एष परिशुष्यति सवासन पुण्यप्रणाशेन लोकद्वयपरिभ्रष्टो भवति योऽनृतमसत्यमभिवदति ज्ञातमप्यर्थः योग्याय शिष्याय न ब्रूते । अप

लपतीत्यर्थः । तस्मादनृतवदने समूलप्रणाशरूपदोष दर्शित्वादहं सुकेशाऽनृतमसत्यं वक्तुं कथयितुं नार्हामि न शक्नोमि । स हिरण्यनाभो मयैवं प्रत्याख्यातः सन् तूष्णीं लज्जया किञ्चिदनुक्त्वैव रथमारुह्य प्रवव्राज प्र कर्षेण गतवान् । यथागतं देशमित्यर्थः । एतेन कस्या मप्यवस्थायां विधिवदुपगताय योग्यशिष्याय विद्योप देश्यैव नापलपनीयेति सूचितम् । तं षोडशकलं पुरुषं मयाऽपि विज्ञेयतया हृदये कृतं त्वा त्वां पूजार्हं योग्य तमं गुरुं पृच्छामि । क्वासौ पुरुषोऽसौ षोडशकलः पुरुषः कुत्र प्रदेशे तिष्ठतीति ॥१॥

'अथ हैनमित्यादि' अथ सत्यकाम के प्रश्न करने के वाद भरद्वाज का अपत्य सुकेशा नामक ब्राह्मण शिष्य ने इन पिप्पलाद महामुनिजी से प्रश्न किया। यहां ह शब्द प्रसिद्धार्थक है । अथवा निश्चयार्थक है । हे भगवन्-पूजनीय ? पिप्पलाद गुरो ? हिरण्यनाभ नामक कोशल में उद्भूत अथवा कोशला के पुत्र राजपुत्र प्रतिष्ठित क्षत्रिय। मेरे समीप में आ करके वक्ष्यमाण प्रश्न को पूछा । प्रश्नाकार बतलाते हैं-**हे भारद्वाज ? षोडशकल** सोलह कला है जिसमें एतादृश वक्ष्यमाण प्राणादिक कला ही सोलह कला है तादृशकला विशिष्ट पुरुष को आप जानते हैं । उस षोडशकल पुरुष विषयक पृच्छा

वाले हिरण्यनाभ राजा को मैंने कहा, क्या कहा ? इस जिज्ञासा में कहते हैं-'**अहं सुकेशा**' इति । हे राजपुत्र ? मैं षोडशकला वाला पुरुष को नहीं जानता हूँ । यदि मैं उस षोडशकला वाले पुरुष को जानता तो श्रद्धाशील जिज्ञासु राजकुमार शिष्य को मैं नहीं कहता ? इतना कहने पर भी राजपुत्र को अनृतत्व की शंका से अविश्वस्त के समान जान करके राजपुत्र को विश्वास हो इसलिये ऋषि पुनः बोले हे राजपुत्र ? वह व्यक्ति मूलसहित सूख जाता है अर्थात् वासना सहित पुण्य कर्म के विनाश हो जाने से लोकद्वय से इहलोक परलोक दोनों से परिभ्रष्ट हो जाता है जो अनृत असत्य बोलता है अर्थात् ज्ञात भी पदार्थ का कथन योग्य शिष्य को नहीं करता है, अपलाप जो करता है । इसलिये अनृत बदन में समूल प्रणाशरूप दोष को देखने वाला मैं असत्य बोलने में समर्थ नहीं हो सकता हूँ । जब मैंने उस राजपुत्र को इसप्रकार निराकरण कर दिया तब वह बिना कुछ बोले रथ पर चढकर चल दिया । इससे यह सूचित है कि किसी भी हालत में विधिवत् अध्ययन करनेवाले योग्य शिष्य को विद्या का उपदेश अवश्यमेव करना चाहिये । उसका अपलाप नहीं करना चाहिये । हे गुरो ? तो उस षोडशकल पुरुष के लिये मैं आप से

पूछता हूँ कि वह षोडशकला वाला पुरुष कहां रहता है ॥१॥

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषोयस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति २

प्रश्न सुनकर उन प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलादजी ने सुकेशा ऋषि को कहा हे सोम्य ? इसी शरीर के अन्दर ही वह सोलह कला वाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा स्थित है उसी पुरुष में ये प्राण से नाम तक षोडश कलाएं सुख एवं दुःख प्रभृति भोग हेतु उत्पन्न होती है ॥२॥

तस्मै सुकेशानाम्ने शिष्याय स पिप्पलाद उवाच उक्तवान् । हे सोम्य प्रियदर्शन स त्वया पृष्टः पुरुष इहैवास्मिन्नेव दृश्यमाने शरीरे देहे वर्तत इति शेषः । यस्मिन् पुरुषे यत्पुरुषनिमित्तमित्यर्थः । वक्ष्यमाणाः प्राणाद्याः कलाः प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते यद्वा प्रभवन्ति यस्योपभोगकरणसमर्था भवन्तीत्यर्थः ॥२॥

'तस्मै सहोवाचेत्यादि' उस सुकेशा नामक शिष्य को पिप्पलाद मुनि कहते हैं-हे सोम्य प्रियदर्शन ? जिस पुरुष के वारे में तुमने पूछा है वह षोडशकल पुरुषरूप इसी परिदृश्यमान शरीर के अभ्यन्तर में रहता है । जिस पुरुष से इन कलाओं की उत्पत्ति होती है अथवा जिस पुरुष के उपभोग के लिये कलायें समर्थ होती हैं ॥२॥

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

उस पुरुष ने यों विचार किया कि मैं किसके शरीर से निकल जाने पर निकला हुआसा हो जाऊंगा एवं किसके देह में स्थिर होने पर प्रतिष्ठित हो जाऊंगा ॥३॥

सः षोडशकलाप्रयुक्तभोगवत्तया षोडशकलः पुरुषः । जीव इति यावत् । ईक्षाञ्चक्रे पर्यालोचितवान् । किमित्याह कस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरतो बहिर्निर्गतेऽहमुत्क्रान्तः शरीरान्निर्गतो भविष्यामि । कस्मिंश्च प्रतिष्ठिते शरीरे स्थितिं लभमानेऽहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितो भविष्यामीति । मदुत्क्रमणसहभूतोत्क्रमणवान् कः ? मत्प्रतिष्ठानसहभूतप्रतिष्ठानवांश्च क इति पर्यालोचनं कृतवानित्यर्थः ॥३॥

'**स ईक्षाञ्चक्रे**' इत्यादि । वह षोडशकला प्रयुक्त उपभोगवान् पुरुष अर्थात् जीवात्मा ने ईक्षण विचार किया कि किसके शरीर से बाहर चलें जाने पर मैं शरीर से निकल जाऊंगा तथा किसके शरीर में प्रतिष्ठित रहने से मैं भी शरीर में प्रतिष्ठित रहूँगा । अर्थात् मदीय उत्क्रमण सहभूत उत्क्रमणवान् कौन है तथा मदीय प्रतिष्ठान सहभूत प्रतिष्ठानवाला कौन है इसप्रकार का पर्यालोचन जीव ने किया ॥३॥

स प्राणमसृजत । प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथवीन्द्रियं मनः । अन्नमन्नाद्वीर्यं

तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु नाम च ॥४॥

उस पुरुष ने प्रथम मुख्य प्राण की सृष्टि की प्राण से श्रद्धा को उत्पन्न किया अनन्तर आकाश वायु तेज जल एवं पृथिवी पांच महाभूत हुये पुनः वाणी प्रभृति दश इन्द्रिय मन तथा अन्न हुआ अन्न से वीर्य पैदा हुआ पुनः तप मन्त्र तथा कर्म एवं अनेक लोक उत्पन्न हुये उन लोकों में नाम उत्पन्न हुआ ॥४॥

स पूर्वोक्तप्रकारकपर्यालोचनकर्ता जीवः प्रथमतः प्राणं मुख्यप्राणं प्राणापानादिप्रभेदपञ्चकविशिष्टम सृजत सृष्टवान् । जीवस्येदं प्राणादिसर्जनं स्वभोगकारणादृष्टद्वारैव न साक्षादिति ध्येयम् । प्राणात् प्राणस्यानन्तरं श्रद्धामदृष्टजनककर्मस्वास्तिक्यबुद्धिमसृजतेत्यन्वयः । ततः खमाकाशं शब्दमात्रगुणकं भूतज्येष्ठं सृष्टवान् । ततो वायुः शब्दस्पर्शगुणद्वयकं वायुं सृष्टवान् । छान्दसो विभक्तिव्यत्ययो वायुरिति । एवमापः पृथिवीत्यादिष्वपि बोध्यम् । ततो ज्योतिः तेजो धातुं शब्दस्पर्शरूपगुणकं व्यसृजत् । तत आपः शब्दस्पर्शरूपरसगुणकं जलं सृष्टवान् । ततः पृथिवी पूर्वोक्तचतुर्भिर्गुणैः सह गन्धरूपः पञ्चमो गुणो यस्य तादृशं पञ्चगुणं पृथिवीधातुमसृजत् । तत इन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियञ्च सृष्टवान् । ततो मनोऽन्तरिन्द्रियं सृष्टवान् । एवं कार्यकरणसृष्ट्यनन्तरं तदीयस्थिरताया अन्नाधीनतया

ब्रीहियवादिरूपमन्नम् । ततोऽन्नाद् भक्ष्यमाणाद् वीर्यं सामर्थ्यं शरीरेन्द्रियादीनां कर्मसु प्रवृत्यर्थं सृष्टवान् । ततः शरीरादीनां विशुद्धिकरणं तपश्चान्द्रायणादिकम् । ततो मन्त्राः ऋगादिमन्त्रान् ततः कर्म ज्योतिष्टोमादिका वैदिकीः स्मार्त्ताश्च क्रियाः ततो लोका स्वर्गादिषु नाम स्वर्गादिनामधेयानि च सृष्टवान् । अदृष्टद्वारा प्राणादि षोडशकलास्त्रष्टृत्वेन तत्प्रयुक्तभोगवत्वेन जीवस्य षोडशकलत्वमितिभावः ॥४॥

'स प्राणमित्यादि' वह पूर्वोक्त प्रकारक पर्यालोचन करनेवाला जीवात्मा ने प्रथमतः मुख्यप्राण को जो कि प्राणापानादि पांच भेद विशिष्ट हैं उसे बनाया । परन्तु जीव का जो यह प्राणादि का सर्जन है वह स्वकीय भोग का कारणरूप जो शुभाशुभ कर्म तादृश कर्म अर्थात् अदृष्ट द्वारा ही किया नतु साक्षादेव सर्जक जीव है ऐसा समझें । तब प्राण सर्ग के अनन्तर उत्तर काल में सर्वभूतों में श्रेष्ठ शब्दमात्र गुणवाला आकाश को बनाया। इस आकाश सर्ग के वाद शब्द स्पर्श गुणक वायु को बनाया । वायुः के आगे जो प्रथमा विभक्ति है वह द्वितीया विभक्ति स्थान में **वायुम्** इसप्रकार द्वितीया है छान्दसत्वात् विभक्ति का व्यत्यय है । इसी तरह आपः पृथिवी इत्यादि स्थल में भी विभक्ति का व्यत्यय

समझना चाहिये। उसके वाद शब्द स्पर्श रूप गुणक तेजो धातु को बनाया। उसके वाद शब्द स्पर्श रूप रस चार गुण युक्त जल को बनाया। तदनन्तर शब्दादि गन्धान्त पंचगुण युक्त पृथिवी को बनाया। उसके वाद ज्ञानेन्द्रिय पांच तथा पांच कर्मेन्द्रिय का उत्पादन किया। इसके वाद आन्तर इन्द्रिय मन को बनाया। इसी तरह शरीरेन्द्रिय सृष्टि के वाद में शरीरादि की स्थिरता का कारण व्रीहियवादिक अन्न का निर्माण किया। उसके वाद खाया हुआ अन्न से वीर्य सामर्थ्य को शरीरादि को कर्म में प्रवृत्ति के लिये बनाया। इसके वाद शरीर की विशुद्धि का कारण चान्द्रायणादिक तप का सर्जन किया। उसके वाद ऋगादि मन्त्रों को उत्पन्न किया। तदनन्तर ज्योतिष्टोमादि श्रौत स्मार्त कर्म उत्पन्न किया। उसके वाद ज्योतिष्टोमादि क्रिया प्राप्य जो स्वर्गादिक लोक उसे बनाया। तब लोक स्वर्गादिक में नामधेय को बनाया। अदृष्ट द्वारा जीव प्राणादिकला का सर्जक है तथा कलाप्रयुक्त भोगवान् है इसलिये जीव को षोडशकलावान् कहते हैं ॥४॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नाम रूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परि

द्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥५॥

जैसे ये प्रवाहित होती हुई सागर की ओर जाती हुई गंगा प्रभृति नदियां समुद्र को प्राप्त कर विलीन हो जाती हैं उन नदियों के गंगा आदि नाम तथा शुक्ल आदि रूप नष्ट हो जाते हैं समुद्र है ऐसा व्यवहार होता है उसीप्रकार ही इस परिद्रष्टभोगादि कर्त्ता जीव के ये भोग के साधन परमपुरुष के तरफ जानेवाली षोडश कलायें सर्व उपाधि से रहित परपुरुष श्रीरामतत्त्व को प्राप्तकर अदर्शनता को प्राप्त कर जाते हैं एवं इन षोडश कलाओं के नाम तथा रूप यानी भोगों का साधन एवं भोग्य स्थान दोनों ही विदीर्ण हो जाते हैं तब पुरुष-परमपुरुष श्रीरामतत्त्व मात्र है ऐसा व्यवहार होता है । वह परब्रह्म अकल-कलाओं से हीन एवं अमृत है । उस तत्त्व के विषय में निम्न श्लोक पठित है ॥५॥

संप्रति परमात्मनोऽकलत्वं दर्शयति सदृष्टान्तं स यथेति । परमपुरुषस्याकलत्वे यो दृष्टान्तः प्रसिद्धः स दृष्टान्त इत्यर्थः । दृष्टान्तमाह-यथालोके स्यन्दमानाः प्रवहन्त्य इमा दृश्यमाना नद्यो गङ्गायमुनादयः समुद्रायणाः समुद्रा एवायनं गतिराधारः प्राप्यस्थानं वा यासां ताः समुद्रं सागरं प्राप्य मिलित्वा अस्तं गच्छन्ति पृथग्भावेन दर्शनं यथा तासां न भवति तथा लुप्ता भवन्ति ।

अदर्शने हेतुमाह-तासां नदीनां नामरूपे नाम गङ्गाय मुनादिकं रूपं च शुक्लकृष्णादिकं ते भिद्येते विनश्यत इत्यर्थः । समुद्रप्रवेशानन्तरं गङ्गादिनामानि रूपाणि च शुक्लादीनि तासां न भवन्तीतिभावः । समुद्र इत्येवं प्रोच्यते गङ्गायमुनादिरूपवस्तुसत्वेऽपि समुद्राऽपृथक्स्थिततया विवेकासंभवात् समुद्र इति व्यवहारास्पदत्वं प्राप्नुवन्ति । अतः समुद्र इत्येव व्यवह्रियत इति भावः । एवमेव नदीदृष्टान्तेनैव परिद्रष्टुर्भोक्तुः परमपुरुषसाक्षात्कारवतो वा जीवस्य इमा प्राणादयः पूर्वोक्ताः षोडशापि भोगोपकरणभूताः कलाः । पुरुषायणाः पुरुषः परमपुरुषः एव अयनं गतिराधारो यासां तादृशाः परमपुरुषाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तयोऽत एव पुरुषं भगवन्तं श्रीरामं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । भोगसामर्थ्यविहीनतया विलुप्ता इव भवन्ति । अदर्शनं यान्तीति यावत् । तासां कलानां नामरूपे नाम च रूपं च ते । प्राणादिकानि नामानि यथास्वं प्राणादीनां स्वरूपाणि च भिद्येते विनश्यतोऽत एव पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। पुरुषाऽपृथक् स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकतया पुरुष शब्देनैव व्यवहारो भवति न प्राणादीनां प्राक्तननामरूपैरितिभावः । अतएव परमात्मा अकलः कलारहित इत्युच्यते । अमृतो मरणधर्मरहितश्चोच्यते । प्राणादिक

लासम्बन्धाधीनत्वान्मरणजन्मादिव्यवहारस्येतिभावः । तदेष श्लोकः तदकलत्वामृतत्वादिविशिष्टं परं ब्रह्माधिकृत्य एष वक्ष्यमाणः श्लोको मन्त्रः प्रवृत्त इत्यर्थः ।५।

संप्रति परमात्मा परमेश्वर में कलाराहित्य बतलाते हैं दृष्टान्तपूर्वक-**'स यथेत्यादि'** परमपुरुष के कलाराहित्य में जो दृष्टान्त प्रसिद्ध है उसे बतलाते हैं । दृष्टान्त के स्वरूप को बतलाते हैं । जिस तरह लोक में स्यन्दमान अर्थात् बहती हुई नदियां ये दृश्यमान गंगा यमुना प्रभृतिक **समुद्रायण** समुद्र ही है अयन गति आधार जिनका अथवा समुद्र ही है प्राप्य स्थान जिनका एतादृश वे पूर्वोक्त नदियां समुद्र-सागर को प्राप्त करके अर्थात् समुद्र में मिल करके अस्तमित हो जाती है । अर्थात् समुद्र से पृथक् रूपसे जैसे नहीं देखने में आती हैं विलुप्त हो जाती हैं । नहीं दिखने में कारण बतलाते हैं-उन नदियों का नाम गंगा यमुना प्रभृतिक तथा रूप-शुक्ल नीलादिक विनष्ट हो जाते हैं । अर्थात् नदियों के समुद्र में प्रविष्ट हो जाने के अनन्तर गंगादिक नाम तथा रूप शुक्लादिक उन नदियों का नहीं रहता है । **'समुद्र इत्येवं प्रोच्यते'** इति । गंगा यमुनादि लक्षण वस्तु तत्व के रहते हुए भी समुद्र से अपृथक् रूपसे अवस्थित रहने के कारण विवेकभेद नहीं होने से **'समुद्र'** इत्याकारास्पद हो जाते

हैं। अतः समुद्र रूपसे ही व्यवहृत होते हैं। इसी तरह अर्थात् नदी दृष्टान्त से परिद्रष्टा अर्थात् भोक्ता जीव को जिसने परमात्मा का साक्षात्कार करलिया है उस जीव को। ये प्राणादिक पूर्वोक्त जो भोग में उपकरणीभूत सोलह कलाएं हैं। पुरुष अर्थात् परमपुरुष ही अयनगति आधार हैं जिनका एतादृश परमपुरुष के अधीन अवस्थान जिनका अत एव पुरुष भगवान् श्रीरामजी को प्राप्त करके अस्तमित हो जाते हैं अर्थात् भोग सामर्थ्य के अभाव हो जाने से विलुप्त के समान हो जाते हैं अर्थात् अदर्शनता को प्राप्त कर जाते हैं। उन कलाओं का नाम रूप प्राणादिक नाम तथा उनका जो रूप है वे विनष्ट हो जाते हैं पुरुष इस रूपसे कहे जाते हैं। पुरुष के अपृथक् स्वरूप स्थिति प्रवृत्तिक होने से पुरुष शब्द से ही उनका व्यवहार होता है न तु प्राणादिक कलाओं का पार्थक्य रूपसे व्यवहार होता है। अत एव परमात्मा अकल कलारहित कहलाते हैं। तथा अमृत मरण धर्मरहित भी कहलाते हैं क्योंकि प्राणादि कला के सम्बन्ध मूलक जन्ममरण व्यवहार होता है और जब कला का सम्बन्ध नहीं रहा तब जन्म मरण का अभाव हो जाना स्वाभाविक है। **'तदेष श्लोक'** इति। कला रहित तथा अमृतत्व धर्म विशिष्ट परब्रह्म श्रीरामजी को

अधिकृत करके यह वक्ष्यमाण श्लोक अर्थात् मन्त्र प्रवृत्त होता है ॥५॥

**अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेत्थ यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥**

रथ के नाभि में अरा-तिरछे काष्ठ समान जिस सर्वेश्वर श्रीरामजी में उक्त कलाएं प्रतिष्ठित हैं उस साधकों के जानने योग्य परब्रह्म श्रीरामजी को सबलोग जानो परपुरुष श्रीरामतत्त्व के ज्ञाता तुम सभी को मृत्यु पीडा न दे ॥६॥

रथनाभौ रथसम्बन्धिचक्रस्य मध्यभागे नाभिरिव स्थितः स्थूलः परितश्छिद्रनिचितः काष्ठविशेषो रथनाभिः । तत्र अरा नाभिनेम्यन्तरालवर्तिनः क्षुद्राः काष्ठविशेषा यथा प्रतिष्ठिताः प्रोता भवन्ति तथैव यत्र परमपुरुषो कलाः प्राणादयः प्रतिष्ठिताः । प्राणादीनामुपादानं तु वस्तुतः परमपुरुष एव स्त्रष्टाऽपि मुख्यः स एव। जीवस्य तु भोगाधायकत्वेन सम्बन्धित्वाददृष्टद्वारा सर्जकत्वाच्च षोडशकलत्वमतः कला अपि परमपुरुषोपादानकतया तत्रैव प्रतिष्ठिता भवन्ति । तत्रैव संश्लेषविशेषप्राप्तौ सत्यां लयवन्तोऽपि भवन्ति अतः कलानां तत्र प्रतिष्ठितत्वमुच्यते । तं सर्वासां कलानामात्मभूतं वेद्यं मुमुक्षुभिः परिज्ञेयं पुरुषं निरुपाधि

कपुरुषशब्दाभिलप्यं वेत्थ विजानीयाः । एवं रीत्या विजानतां फलमाह-हे शिष्याः व एवं प्रकारेण परम पुरुषज्ञानवतो युष्मान् मृत्युः संसाररूपो मा परिव्यथा नं परितो व्यथयतु । मृत्युप्रयुक्ता व्यथा भंवतां पर मात्मतत्त्ववेदिनां न भवतु इतिभावः ॥६॥

'अरा इवेत्यादि' रथ की नाभि में अर्थात् रथ सम्बन्धी चक्र के मध्य भाग में नाभि के समान स्थित स्थूल चारों तरफ से लगा हुआ काष्ठ विशेष को रथनाभी कहते हैं । उसमें अरा तथा नाभि के अन्तराल में काष्ठ विशेष व्यवस्थित रहता है । उसी तरह जिस परमपुरुष में प्राणादिक कला प्रतिष्ठित हैं । प्राणादिक का उपादान तथा कर्ता परमपुरुष ही हैं । जीव का कला भोग साधन रूपसे सम्बन्धी होने से अदृष्ट द्वारा जनकत्व है साक्षात् जनकता परमेश्वर में ही है । उन सब कलाओं का आत्मभूत तथा मुमुक्षुओं से जानने योग्य निरूपाधि पुरुष पदवाच्य सर्वेश्वर श्रीरामजी को जानें । हे शिष्यों ? इस प्रकार परमपुरुष ज्ञानवान् आप लोगों को मृत्यु संसारभय दुःखी न बनावे, अर्थात् परमात्मतत्त्ववेदी आपलोगों को मृत्यु प्रयुक्त दुःख नहीं होवे ॥६॥

ताह्नोवाचैतावदेवाहं परं ब्रह्म वेद ।

नातः परमस्तीति ॥७॥

उन प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलादजी ने सुकेशा प्रभृति छवों ऋषियों को पूर्वोक्त प्रकार से प्रश्नानुरूप उत्तर देकर कहा मैं इतना ही जानता हूँ कि परमतत्त्व परब्रह्म सर्वेश्वर श्रीरामजी हैं अतः सर्वाधार सर्वरमणशील श्रीरामजी से पर तत्त्व नहीं है ॥७॥

एवं तान् शिष्यान् सुकेशादीनुपदिश्य उवाच प्रोक्तवान् भगवान् पिप्पलादो गुरुः । किमित्याह- एतत्परं **ब्रह्माधिकृत्याहं पिप्पलाद** एतावदेव **वेद जानामि ह निश्चितमेतत् । अहमेतावदेव जाना मीत्युक्तौ कदाचिदितोऽप्यधिकं वेदितव्यं भवेदिति शंकासंभवेदतः तन्निराकर्त्तुमाह** नातः परमस्तीति **अ तोऽस्माद् विज्ञातात् परब्रह्मणः परमुत्कृष्टं वेदितव्यं नास्तीति ॥७॥**

इसप्रकार सुकेशादिक उन शिष्यों को उद्देश्य करके ऋषि बोले-क्या बोले तो इस परमब्रह्म को अधिकृत करके मैं पिप्पलाद इतना ही जानता हूँ । आप इताना ही जानते हैं तो इससे अधिक की शंका होती है तो उसका निराकरण करने के लिये कहते हैं-**'नातः पर मित्यादि'** इस विज्ञात परब्रह्म श्रीरामतत्त्व से अधिक उत्कृष्ट कोई भी विज्ञातव्य नहीं है ॥७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्मा कमविद्यायाः परं पारं तारयसि । नमः परम

ऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥८॥

卐 इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः ॥६॥ 卐

समाप्ता चेयमथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषद्

छओं उन सुकेशा प्रभृति ऋषियों ने तत्त्वोपदेशक उन महर्षि पिप्पलादजी को यथाविधि पूजा करते हुये कहा आप ही हम सवों के पिता हैं क्योंकि आपने ही हमलोगों को अविद्या स्वरूप संसार सागर से उस पार लगा दिया है मन्त्रों के तत्त्वज्ञाता आप जैसे महर्षि को नमस्कार है हमें तत्त्वोपदेष्टा परमर्षि ? आपको सादर अभिवादन है-दण्डवत प्रणाम है ॥८॥

卐 इति 卐

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीता लघुदीपिका

ते सुकेशादयः षडपि शिष्यास्तं गुरुं पिप्पलादम् । अर्चयन्तः पूजयन्तो गुरुचरणकमलयोः पुष्पाञ्जलि प्रक्षेपेण शिरः प्रणिपातादिना सेवमाना इत्येतत् । ऊचु रितिशेषः । किमूचुरित्यत्राह-त्वं हि त्वमेव नोऽस्माकं शिष्याणां पिता । जन्मदो बीजप्रदः पिता शरीरमात्रं ददाति तच्च जरामरणादिनानाविधदुःखपरिभूतं त्वं तु जन्ममरणाद्यन्तकरं विज्ञानजन्मदत्तवानसि । ततः शरीर प्रदपित्रपेक्षयाऽपि श्रेष्ठः पिताऽसीतिभावः । पितृत्वे हेतुमूचुः-अविद्यायाः कामकर्मात्मिकाया मायायाः परं

पारं तीरं तारयसि प्रापयति । विद्ययाऽविद्यापारप्रापकत्वात् पितासीतिभावः । नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तकेभ्यः तत्त्वप्रदेभ्यो नमो नमस्कारः । द्विरुक्तिरादरार्थोपनिषत्समाप्तिद्योतनार्था वा ॥८॥

卐 इति भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते प्रश्नोपनिषद
आनन्दभाष्ये षष्ठः प्रश्नः ॥६॥ 卐

वे सुकेशा प्रभृतिक छवो शिष्य गुरु पिप्पलादजी के चरणकमल में पुष्पाञ्जलि समर्पण पूजा करते हुए तथा नमस्कार करते हुए बोले-आप ही हमलोगों के पिता रक्षक हैं । जन्मप्रद पिता तो केवल शरीर देते हैं जो कि जन्ममरणादि दुःख से युक्त रहता है । आप तो जन्म मरण के विनाशक विज्ञानरूप जन्म के दाता हैं । अतः उस पिता से आप श्रेष्ठ हैं क्योंकि काम कर्मात्मक जो अविद्या माया तादृश माया के पार को आपने बतला दिया । इसलिये आप सर्वश्रेष्ठ हैं । ब्रह्मविद्या संप्रदाय प्रवर्तक ऋषि को नमस्कार हो नमस्कार हो । द्विर्वचन आदरार्थक है अथवा उपनिषत् की समाप्ति का बोधक है ॥८॥

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन
जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य
प्रणीत श्रीआनन्दभाष्येप्रकाशे
षष्ठः प्रश्नः
卐 श्रीरामः शरणं मम 卐